प्रकाशकीय

आगम-अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर, (राजस्थान) के द्वारा 'उपासकदशांग और उसका श्रावकाचार' नामक पुस्तक प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

उपासकदशांग श्रावक-आचार को प्रतिपादित करने वाला एक प्राचीन आगम ग्रन्थ माना जाता है। संस्थान के शोधाधिकारी डॉ० सुभाष कोठारी ने इसका आलोचनात्मक अध्ययन कर शोध-प्रबन्ध लिखा, जिस पर इन्हें १९८५ में सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गयी थी। इस शोध-प्रबन्ध के परीक्षक डॉ० मोहनलाल जी मेहता एवं डॉ० गोकुल चन्द जी जैन की अनुशंसानुसार इसे सम्पादित करके प्रकाशित किया जा रहा है। उपासकदशांग, श्रावकाचार का प्राचीनतम एवं प्रथम ग्रन्थ है। डॉ० कोठारी ने इसका श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के श्रावक-आचार को प्रतिपादित करने वाले ग्रन्थों के प्रकाश में तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है; जिसके कारण यह कृति महत्त्वपूर्ण हो गयी है। संस्थान द्वारा इस ग्रन्थ के प्रकाशन का एक उद्देश्य जैन आगमों पर शोध करने वाले युवा विद्वानों को प्रोत्साहित करना है, हमें आशा है कि डॉ० कोठारी भविष्य में भी आगमों के शोध-परक अध्ययन में लगे रहेंगे।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए हमें आदरणीय गणपतराज जी बोहरा के द्वारा सात हजार रुपये का अनुदान प्राप्त हुआ है। संस्थान उनके इस सहयोग के लिए अत्यन्त आभारी है। श्रीमान् गणपतराज जी बोहरा प्रारम्भ से ही संस्थान के विकास हेतु प्रयासशील हैं। वर्तमान में संस्थान के अध्यक्ष के रूप में हमें उनकी सेवायें उपलब्ध हैं। संस्थान के प्रति आपका स्नेह हमेशा बना रहेगा—यही अपेक्षा है।

ग्रन्थ के सुन्दर और सत्वर मुद्रण का कार्य रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स ने किया, एतदर्थ हम उनके प्रति भी आभार व्यक्त करते हैं। ग्रन्थ के प्रूफ संशोधन में अशोक कुमार सिंह एवं महेश कुमार का जो सहयोग रहा, उसके लिए उनके भी आभारी हैं।

सरदारमल कांकरिया	फतहलाल हिंगर
महामंत्री	मंत्री

प्राक्कथन

जैन धर्म के इतिहास में श्रावक धर्म की विशेष भूमिका रही है। यही कारण है कि जैन-धर्म की प्रमुख परम्पराओं ने श्रावकाचार पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उपासकदशांग श्वेताम्वर परम्परा में श्रावकाचार का आधारभूत ग्रन्थ कहा जा सकता है। इस ग्रन्थ में तत्कालीन दस प्रमुख श्रावकों के जीवन को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत कर श्रावक धर्म का प्रतिपादन किया गया है। अतः यह ग्रन्थ शोध की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है।

रूपरेखा—

"उपासकदशांग : एक परिशीलन" नामक अपने इस शोध ग्रन्थ की पृष्ठभूमि में हमने ग्रन्थ की विभिन्न विशेषताएँ और वहुविध सामग्री के अध्ययन को ध्यान में रखा है। अव तक उपासकदशांगसूत्र के यद्यपि कई संस्करण प्रकाशित हुए हैं किन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ का, समग्र रूप से तुलनात्मक अध्ययन अभी तक प्रस्तुत नहीं किया गया था। इसलिए हमने प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रतिपादित श्रावकाचार के अध्ययन के अतिरिक्त ग्रन्थ की अन्य विशेषताओं पर भी प्रकाश डालना अपना लक्ष्य रखा है। दस श्रावकों की जीवन-पद्धति और उनके धार्मिक अनुष्ठानों से तत्कालीन सामाजिक जीवन की झाँकी देखने को मिलती है। जैन धर्म में गृहस्थ धर्म का मूल रूप इस ग्रन्थ से देखा जा सकता है। उपासकदशांगसूत्र अर्द्धमागधी भाषा का प्रतिनिधि ग्रन्थ है, अतः भाषा की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का अध्ययन किया जाना आवश्यक था। इन सब दृष्टियों को ध्यान में रखते हुए मैंने अपने शोध-ग्रन्थ की रूपरेखा को इस प्रकार प्रस्तावित किया है।

प्रथम अध्याय : आगम साहित्य एवं उपासकदशांग
द्वितीय अध्याय : उपासकदशांग का परिचय
तृतीय अध्याय : उपासकदशांग की विषयवस्तु एवं विशेषताएँ
चतुर्थ अध्याय : उपासकदशांग का रचनाकाल एवं भाषा स्वरूप
पंचम अध्याय : श्रावकाचार
षष्ठ अध्याय : उपासकदशांग में वर्णित समाज एवं संस्कृति

प्रस्तुतीकरण :

उपर्युक्त रूपरेखा के अनुसार शोध-ग्रन्थ के प्रथम अध्याय आगम साहित्य एवं उपासकदशांग में सर्वप्रथम आगम शब्द की परम्परा और स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। जैन परम्परा में आगम के लिए श्रुत, सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, प्रवचन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापना आदि अनेक शब्दों का प्रयोग किया गया है। किन्तु इनमें आगम शब्द अधिक प्रचलित है। प्राचीन ग्रन्थों से आगम की विभिन्न परिभाषाओं को प्रस्तुत कर आगम के स्वरूप को परिभाषित किया गया है जिससे यह ज्ञात होता है कि केवलज्ञान के धारी तीर्थंकर महापुरुषों के प्रामाणिक वचन आगम कहे जाते हैं। इन प्रामाणिक वचनों का परम्परा के द्वारा सुरक्षापूर्वक जो संकलन किया गया है वह आगम साहित्य के नाम से जाना जाता है। यहीं पर आध्यात्मिक, दार्शनिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से आगम साहित्य के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। आगम साहित्य मौखिक परम्परा से सुरक्षित होता हुआ विभिन्न वाचनाओं के द्वारा व्यवस्थित हुआ है। वीर निर्वाण ९८० से ९९३ में आयोजित देवर्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में सम्पन्न वलभी वाचना में अर्द्धमागधी आगम साहित्य को पुस्तकारूढ़ किया गया। वही आगम का स्वरूप आज हमें विभिन्न रूपों में प्राप्त है इसी अध्याय में जैन आगम साहित्य का वर्गीकरण एवं परिचय प्रस्तुत किया गया है। इसमें बारह अंग ग्रन्थ, बारह उपांग, चार मूलसूत्र, छः छेदसूत्र एवं अन्य प्रकीर्णक आगमों का परिचय दिया गया है। इस अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि जैन आचार्यों ने तीर्थंकरों की वाणी को सुरक्षित रखने में अथक श्रम किया है। यही आगम साहित्य जैन धर्म और संस्कृति को जानने का मूल आधार है।

शोध-ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में जैन आचार के आधारभूत ग्रन्थ उपासकदशांगसूत्र का परिचय प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय में उपासकदशांग की विभिन्न पाण्डुलिपियों, प्रकाशित संस्करणों एवं इसके व्याख्या साहित्य का पहली बार एक साथ परिचय प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय से ज्ञात होता है कि विभिन्न संस्करण होते हुए भी इस ग्रन्थ का समग्र रूप से अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया गया था, जिसकी पूर्ति प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ के द्वारा की गयी है।

तृतीय अध्याय में **'उपासकदशांग की विषयवस्तु एवं विशेषताएँ'** प्रतिपादित की गयी हैं। इस ग्रन्थ में आनन्द, कामदेव, चुलनीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुण्डकौलिक, सकडालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता एवं सालिहिपिता इन दस श्रावकों के साधनामय जीवन की झाँकी प्रस्तुत की गयी है। उपासकदशांगसूत्र की विषयवस्तु के मूल्यांकन से यह ज्ञात होता है कि इसमें विभिन्न व्यक्तियों के उदात्त चरितों को प्रस्तुत किया गया है। ये श्रावक सामाजिक दृष्टि से सम्पन्न होते हुए भी आध्यात्मिक साधना के लिए पूर्णरूप से समर्पित थे। संसार में रहते हुए आत्मकल्याण के मार्ग में अग्रसित होना इन श्रावकों की विशेषता थी। इससे साधक को यह प्रेरणा मिलती है कि विभिन्न परिस्थितियों और संकटों के होते हुए भी आत्म साक्षात्कार किया जा सकता है। इस अध्याय में ग्रन्थ की साहित्यिक सुषमा को भी रेखांकित किया गया है। विभिन्न साधकों का जो काव्यात्मक वर्णन इस ग्रन्थ में प्राप्त है वह भारतीय साहित्य की काव्यमय भाषा को समझने के लिए आधार हो सकता है। कथा-वस्तु में तार्किक संवादों और मानव मनोविज्ञान का जो समावेश किया गया है, उसका मूल्यांकन भी इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

शोध ग्रन्थ के चतुर्थ अध्याय में **'उपासकदशांग का रचना काल एवं भाषा स्वरूप'** का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। विभिन्न प्रमाणों व साक्ष्यों से यह प्रमाणित किया गया है कि श्रमणाचार के आचारांग आदि ग्रन्थों के साथ-साथ श्रावकाचार के ग्रन्थों का भी निर्माण हुआ होगा, जिससे उपासकदशांग का रचना काल ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी से ईसा की प्रथम शताब्दी के मध्य माना जाना चाहिए। इसी ग्रन्थ में उपासकदशांग का भाषात्मक विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है। सर्वप्रथम प्राकृत भाषा और अर्द्धमागधी के स्वरूप को स्पष्ट कर उसकी विशेषताएँ प्रस्तुत की गयी हैं। उसके बाद उन विशेषताओं को उपासकदशांग में खोजकर संदर्भ सहित प्रस्तुत किया गया है। इसमें यह भी स्पष्ट किया गया है कि उपासकदशांग में केवल अर्द्धमागधी भाषा का ही प्रयोग नहीं है अपितु महाराष्ट्री प्राकृत के भी कई रूप प्राप्त होते हैं। ग्रन्थ की भाषा को स्पष्ट करने के लिए इस अध्याय में विभिन्न चार्टों के माध्यम से संज्ञा, सर्वनाम, धातुरूप, कृदन्त प्रयोग आदि के विभिन्न शब्दों को संदर्भ सहित प्रस्तुत किया गया है।

अध्याय पाँच में **श्रावकाचार** के अन्तर्गत पाँच अणुव्रतों, सात शिक्षा-व्रतों एवं ग्यारह प्रतिमाओं का अध्ययन किया गया है इसमें अणुव्रत शब्द के अर्थ, स्वरूप एवं वर्गीकरण को प्रस्तुत किया गया है। मन और वचन की एकता द्वारा सत्कर्म की ओर प्रवृत्त होने के जो लघु नियम हैं वे ही अणुव्रत हैं। वस्तुतः अपूर्ण से पूर्णता की ओर जाने की साधना ही अणुव्रत से महाव्रत की ओर जाने की साधना है। उपासकदशांगसूत्र में प्राप्त संदर्भों एवं इस ग्रन्थ की अभयदेववृत्ति को आधार मानकर ही अणुव्रतों का विवेचन इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। इस अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि जैनाचार्यों ने सर्वप्रथम हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन एवं परिग्रह इन पाँच प्रमुख पापों के स्वरूप का वर्णन कर फिर इनसे विरत होने की बात कही है। इसी क्रम में इन पाँचों पापों के भेद-प्रभेदों की चर्चा भी जैन साहित्य में प्राप्त होती है। व्रत पालन के प्रसंग में साधक द्वारा कई तरह से स्खलन होना स्वाभाविक है। अतः श्रावक साधना में इसका ध्यान रखते हुए प्रत्येक व्रत के साथ उनके अतिचारों का विवेचन भी जैनाचार्यों ने किया है। उन सबका विवरण इस अध्याय में तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। श्रावकाचार के वर्णन के प्रसंग में यह बात देखने को मिलती है कि प्रायः सभी आचार्यों ने रात्रिभोजन का त्याग करने का उपदेश दिया है। अतिचारों का जो सूक्ष्म विवेचन है उसमें भी सूक्ष्म से सूक्ष्म हिंसा से बचने का प्रयत्न जैनाचार्यों का रहा है। इस तरह श्रावकाचार गृहस्थ जीवन के लिए होते हुए भी मुनि जीवन का लघु संस्करण ही कहा जा सकता है। इस अध्याय से यह स्पष्ट होता है कि यह अणुव्रत और श्रावक के मूलगुण एक ओर जहाँ धार्मिक सिद्धान्तों की ओर मनुष्य का ध्यान आकृष्ट करते हैं वहीं दूसरी ओर सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था को भी नैतिक रूप में संचालन करने के लिए इनसे प्रेरणा प्राप्त होती है। वास्तव में जैन श्रावकाचार सहअस्तित्व और समाजवाद की दिशा में किया गया एक व्यावहारिक प्रयत्न है।

उपासकदशांग में तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रतों को संयुक्त रूप से शिक्षाव्रत कहा गया है। वस्तुतः अणुव्रतों के विकास-क्रम को व्यवस्थित करने के लिए इन गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का विधान जैन श्रावकाचार में किया गया है। आचार्य अमृतचन्द्र का कहना ठीक ही है कि जैसे परकोटे नगर की रक्षा करते हैं उसी प्रकार शीलव्रत (गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत)

अणुव्रतों की रक्षा करते हैं। उपासकदशांगसूत्र में इनको संयुक्त रूप से सात शिक्षाव्रत कहा गया है। इन व्रतों के भेद-प्रभेद में कुछ क्रम का अन्तर पाया जाता है उसको एक चार्ट के द्वारा इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। उसके बाद गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों के स्वरूप, भेद-प्रभेद एवं अति-चारों का मूल्यांकन किया गया है। ये गुणव्रत व शिक्षाव्रत आधुनिक दृष्टि से एक आदर्श नागरिक में नैतिक अधिकारों व कर्तव्यों की विवेचना करने वाले व्रत हैं। इन व्रतों का पूर्णरूपेण पालन करने से श्रावक केवल आत्म-साक्षात्कार का अधिकारी ही नहीं होता अपितु वह देश का आदर्श नागरिक भी बन जाता है।

प्रसंगवश यहीं पर श्रावकाचार से सम्बन्धित अन्य व्रतों का भी मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। ग्यारह प्रतिमाएँ आत्मसाधना के महल पर आरूढ़ होने के लिए ग्यारह सीढ़ियाँ हैं। हालाँकि उपासकदशांग में इनका मात्र संकेत है परन्तु टीकाकार ने इनका विवेचन किया है। साथ ही षट्कर्म, षट्-आवश्यक, चार विश्राम, दस धर्म और बारह भावनाएँ भी श्रावक आचार में मानी जाती हैं, इन सब का उल्लेख प्रस्तुत अध्याय में किया गया है।

षष्ठ अध्याय उपासकदशांग में वर्णित समाज एवं संस्कृति के विभिन्न तथ्यों का मूल्यांकन प्रस्तुत करता है। इस ग्रन्थ में जिन दस श्रावकों का वर्णन है उनमें आर्य-अनार्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय, गाथापति, कुम्भकार, आदि जातियों के उल्लेख प्राप्त हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि चार वर्णों और चार जातियों का जो विभाजन भारतीय साहित्य में उपलब्ध होता है वह उपासकदशांगसूत्र के समय उतना प्रचलित नहीं था। पारिवारिक जीवन में संयुक्त परिवार को विशेष महत्त्व प्राप्त था। परिवार का मुखिया ही कुटुम्ब का संचालक होता था। यद्यपि दस श्रावकों के जीवन का जो वर्णन है वह अत्यन्त समृद्धि का सूचक है, किन्तु समाज में मध्यम और निम्नवर्ग का भी अस्तित्व रहा होगा, इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। आर्थिक जीवन का मुख्य आधार कृषि व पशु-पालन था इसके भी विभिन्न संदर्भ इस ग्रन्थ में उपलब्ध हैं। व्यापार और वाणिज्य द्वारा भी आर्थिक जीवन को समृद्ध बनाया जाता था। देशी-विदेशी दोनों प्रकार के व्यापार उस समय प्रचलित थे। ग्रन्थ के वर्णन से ऐसा ज्ञात होता है कि लोगों का जीवन समृद्धि और आमोद-प्रमोद से युक्त था। इस अध्याय के अन्त में धार्मिक जीवन और ग्रन्थ में उपलब्ध भौगोलिक स्थानों का विवरण भी

प्रस्तुत किया गया है। इस तरह संक्षेप में तत्कालीन संस्कृति को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

आभार—इस शोध प्रबन्ध को इस रूप में प्रस्तुत करने में विभिन्न प्राचीन एवं अर्वाचीन आचार्यों और लेखकों के ग्रन्थों से सहयोग लिया गया है, अतः उन सबका हृदय से आभारी हूँ। यह शोध-प्रबन्ध डॉ० प्रेम सुमन जैन, अध्यक्ष, जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग, सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर के निर्देशन में प्रस्तुत किया गया था अतः आदरणीय जैन सा० के प्रति आभार व्यक्त करना अपना कर्तव्य समझता हूँ।

इस शोध ग्रन्थ का प्रकाशन आगम-अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर द्वारा हो रहा है अतः मैं संस्थान एवं उनके पदाधिकारीगण श्रीयुत् गणपतराजजी बोहरा, सरदारमलजी कांकरिया एवं फतहलालजी हिंगर का भी हृदय से आभारी हूँ।

संस्थान के मानद निदेशक प्रो० सागरमल जी जैन द्वारा प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के प्रकाशन एवं परिष्कार में मुझे जो अमूल्य सुझाव और आत्मीयतापूर्ण प्रोत्साहन मिला, उसके लिए आभार व्यक्त करना मात्र शाब्दिक औपचारिता ही होगी, उनका हृदय से उपकृत हूँ।

आदरणीय प्रो० कमलचन्दजी सोगानी, अध्यक्ष, दर्शनविभाग, सुखाडिया विश्वविद्यालय एवं डॉ० देव कोठारी, निदेशक, साहित्य संस्थान ने मुझे जो दिशा-निर्देश और सक्रिय सहयोग दिया है, उसके लिए उनके प्रति आभार व्यक्त करना मैं अपना दायित्व समझता हूँ।

प्रस्तुत कृति का लेखन कार्य मेरी ज्येष्ठ भगिनी (सम्प्रति-साध्वी) पूज्या राजश्री जी की प्रेरणा का फल है। इसमें पूज्य पिताश्री जीवनसिंह जी कोठारी, मातुश्री सीतादेवी का आशीर्वाद एवं भाई श्री दिनेश, हेमन्त, विनोद, बहिन पद्मिनी एवं धर्मपत्नी राजकुमारी का आत्मीयतापूर्ण सहयोग रहा है, अतः प्रकाशन की इस वेला में उनका स्मरण हो आना स्वाभाविक है।

१६ दिसम्बर १९८८
१९, वापना स्ट्रीट
उदयपुर—३१३००१

डॉ० सुभाष कोठारी
शोध अधिकारी
आगम-अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान
उदयपुर

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

आगम साहित्य और उपासकदशांग

आगम शब्द का अर्थ, पर्याय एवं परिभाषा

धार्मिक आस्था और धर्म के प्रचार-प्रसार में उसके मौलिक एवं आधारभूत वाङ्मय का विशिष्ट महत्त्व होता है। यही कारण है कि विश्व के प्रत्येक धर्म के अपने पवित्र ग्रन्थ हैं, जिनमें उस धर्म के मूल सिद्धान्त, आदर्श और उपदेश सन्निहित हैं।

वैदिक-परम्परा में 'वेद', बौद्धों में 'त्रिपिटक', ईसाइयों में 'बाईबिल', पारसियों में 'अवेस्ता' और मुस्लिमों में 'कुरानशरीफ़' ऐसे ही पवित्र और पूज्य धर्म-ग्रन्थ हैं। इसी क्रम में जैन धर्मावलम्बियों के धर्म-ग्रन्थों को 'आगम' कहा जाता है। जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर की वाणी इन्हीं आगम ग्रन्थों में आज भी सुरक्षित है।

(अ) आगम शब्द का अर्थ—

आगम शब्द 'आ' उपसर्ग एवं 'गम्' धातु से निर्मित हुआ है, जिसमें 'आ' का अर्थ, पूर्ण और 'गम' का अर्थ गति या प्राप्ति है। आचारांग में आगम शब्द जानने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[1] भगवतीसूत्र,[2] अनुयोगद्वार-सूत्र व स्थानांगसूत्र[3] में 'आगम' शब्द शास्त्र के अर्थ में व्यवहृत हुआ है।

पाइअ-सद्द-महण्णवो में आगम का अर्थ, शास्त्र या सिद्धान्त के रूप में किया गया है।[4]

---

१. क– "आगमेत्ता आणवेज्जा" –आचारांगसूत्र, १/५/४
   ख– ' लाघवं आगममाणे" – आचारांगसूत्र, १/६/२
२. भगवतीसूत्र, ५/३/१९२
३. स्थानांगसूत्र, ३३८
४. पाइअसद्दमहण्णवो—(सं०) सेठ, पं० हरगोविन्ददास, पृ० ११

(ब) पर्यायवाची शब्द—

जैन-परम्परा के प्राचीनतम ग्रन्थों को सामान्यतया आगम कहा जाता है, परन्तु अतीतकाल में ये ग्रन्थ 'श्रुत' के नाम से भी प्रसिद्ध रहे हैं।

स्थानांगसूत्र में आगम-ज्ञाताओं को 'श्रुतकेवली' व 'श्रुतस्थविर' कहा गया है।[१] नन्दीसूत्र में आगमों के लिए स्पष्टतः 'श्रुत' शब्द का उल्लेख हुआ है।[२] अनुयोगद्वारसूत्र[३] और विशेषावश्यकभाष्य[४] में आगम को सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, प्रवचन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापना आदि शब्दों से सूचित किया गया है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थभाष्य में श्रुत, आप्त-वचन, आगम, उपदेश, ऐतिह्य, आम्नाय, प्रवचन एवं जिनवचन आदि को आगम कहा है।[५] इस तरह 'आगम' शब्द के विभिन्न पर्यायवाची शब्द प्रचलित रहे हैं।

(स) आगम परिभाषा—

विभिन्न ग्रन्थकारों, विद्वानों व आचार्यों ने आगमों की अनेक परिभाषाएं दी हैं, जिनको सम्पूर्ण रूप से व्यक्त करना यहाँ शक्य नहीं है, फिर भी आगम की निम्न परिभाषाएँ द्रष्टव्य हैं :—

१. आप्त का कथन आगम है। यह परिभाषा अनेक ग्रन्थों में प्राप्त होती है।[६]

२. आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति में कहा है कि तप, नियम,

---

१. स्थानांगसूत्र, सूत्र १५०

२. नन्दीसूत्र-(सं०) मुनि मधुकर, सूत्र ७२

३. "सुयसुत्त ग्रन्थ सिद्धंतपवयणे आणवयण उवएसे पण्णवण आगमे या एगट्ठा पज्जवासुत्ते"—अनुयोगद्वारसूत्र, ४

४. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ८/९७

५. "सूत्र-श्रुतं-मतिपूर्वंद्वयनेक-द्वादशभेदम्"—तत्त्वार्थभाष्य, १/२०

६. क. "सर्वज्ञ प्रणीतोपदेशे"—आचारांगसूत्र, १/६/४ ख. उत्तराध्ययनसूत्र, १९३
ग. नियमसार, ८ घ. नन्दीसूत्र, ४०-४१
ङ. प्रमाणनयतत्त्वालोक, ४/१ च. रत्नकरण्डकटीका, ४
छ. "आप्तोपदेशः शब्दः"—न्यायसूत्र, १/१/७ ज. आवश्यक (वृत्ति) मलयगिरी, पत्र ४८

ज्ञान-रूप-वृक्ष के ऊपर आरूढ़ होकर अनन्तज्ञानी, केवली भगवान् भव्य आत्माओं के प्रतिवोध के लिये ज्ञानकुसुमों की वृष्टि करते हैं, गणधर अपने वुद्धि पट पर उन सकल कुसुमों को झेलकर प्रवचन-माला गूंथते हैं[1], वही आगम है।

३. आवश्यकनिर्युक्ति व धवला टीका में कहा गया है कि तीर्थंकर केवल अर्थरूप का उपदेश देते हैं और गणधर उसे ग्रन्थवद्ध या सूत्रवद्ध करते हैं।[2]

४. गणधर के समान ही अन्य प्रत्येक-वुद्धों द्वारा निरूपित आगम भी प्रमाण रूप होते हैं।[3]

५. आप्तवचन आगम माना जाता है, उपचार से आप्तवचन से उत्पन्न अर्थ-ज्ञान को भी आगम कहा गया है।[4]

६. जिससे पदार्थों का परिपूर्णता के साथ मर्यादित ज्ञान प्राप्त हो, वह आगम कहा गया है।[5]

७. जिससे वस्तु-तत्त्व का परिपूर्ण ज्ञान हो, वह आगम कहा गया है।[6]

८. जिससे पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो, वह आगम है।[7]

---

१. "तव नियम नाण रुक्खं—तओ पवयणट्ठा।"—आवश्यकवृत्ति, गाथा ८९-९०

२. क. "अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गन्थन्ति गणहरा णिउणं।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तइ ॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १९२

ख. धवलाटीका, भाग १, पृ० ६४ व ७२

३. "सुत्तं गणहरकथिदं तहेव पत्तेयवुद्धकथिदं च।
सुदकेवलिणा कथिदं अभिण्ण दसपुव्वकथिदं च ॥—मूलाचार, ५/८०

४. "आप्तवचनादाविर्भूतमर्थ संवेदनमागमः। उपचारादाप्तवचनं च।"
—स्याद्वादमंजरीटीका, श्लोक ३८

५. "आ-अभिविविना सकलश्रुतविपयव्यासि रूपेण, मर्यादया वा यथावस्थित प्ररूपणा रूपया गम्यन्ते—परिच्छिद्यन्ते अर्थाः येन सः आगमः" ॥
—आवश्यक (वृत्ति) मलयगिरि

६. "आसमन्ताद् गम्यते वस्तुतत्वमनेनेत्यागमः" —रत्नाकरावतारिकावृत्ति

७. "आगम्यन्ते मर्यादयाऽववुद्धयन्तेऽर्थाः अनेनेत्यागमः —रत्नाकरावतारिकावृत्ति

९. जो तत्त्व आचार-परम्परा से वासित होकर आता है, वह आगम कहा जाता है।[१]

१०. जिससे सही शिक्षा प्राप्त होती है, विशेष ज्ञान प्राप्त होता है, वह शास्त्र, आगम या श्रुतज्ञान कहलाता है।[२]

११. कर्मों के क्षय हो जाने से जिनका ज्ञान सर्वथा निर्मल एवं शुद्ध हो गया हो, ऐसे आप्त पुरुषों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का संकलन आगम है।[३]

इस प्रकार उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि वीतराग तीर्थंकर एवं सर्वज्ञ महापुरुषों के प्रामाणिक वचन या उनके कथनों के आधार पर विशिष्ट ज्ञानी (पूर्वधर) आचार्यों के ग्रन्थ आगम रूप में स्वीकृत किये गये हैं।

आगम साहित्य का महत्त्व

जैन आगम साहित्य भारतीय ज्ञान का कोश है। सामान्यतया यह भगवान् महावीर का साक्षात् उपदेश माना जाता है। यह जितना विस्तृत एवं सरल है, उतनी ही उसमें चिन्तन की गम्भीरता तथा दार्शनिकता भरी हुई है। जैनागमों में मूलतः सांसारिक भोगों से चित्त की वृत्तियों को हटाकर, त्याग एवं वैराग्य के द्वारा मुक्ति को प्राप्त करने का सन्देश है। जैन आगमों के प्रतिपादकों ने केवल उपदेश ही नहीं दिये वरन् पहले अपने जीवन को त्याग व वैराग्य के माध्यम से शुद्ध किया और तत्पश्चात् 'सर्वजन सुखाय' उपदेश दिया यथा :—

"सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं"

अर्थात् उन्होंने सभी जीवों की रक्षा रूप दया के लिए प्रवचन दिये।[४]

---

१. "आगच्छत्याचार्यपरम्परया वासनाद्वारेणेत्यागमः"—सिद्धसेणगणि कृत भाष्यानुसारिणीटीका, पृ० ८७

२. "सासिज्जइ जेण तयं सत्थं तं वा विसेसियं नाणं।
आगम एव य सत्थं आगम सत्थं तु सुयनाणं॥
—विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ५५९

३. "आप्तवचनादाविर्भूतमर्थ संवेदनमागमः"—प्रमाणणयतत्वालोक ४/१,२

४. शास्त्री, देवेन्द्र मुनि-जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, पृष्ठ ४

आगम साहित्य इतना विपुल व समृद्ध है कि उसमें दार्शनिक चिन्तन के साथ साथ श्रमणों एवं श्रावकों के आचार-विचार, व्रत-संयम, त्याग-तपस्या, उपवास-प्रायश्चित्त आदि के उपदेशों के साथ इन्हें स्पष्ट करनेवाली लोक प्रचलित कथाओं व दृष्टान्तों के वर्णन भी भरे पड़े हैं। इसके अलावा उनसे महावीर आदि तीर्थंकरों के जन्म, तपश्चर्या, त्याग, संयम, संन्यास जीवन व उनके उपदेश, विहार-चर्या, शिष्य-परम्परा, तथा आर्य क्षेत्र की सीमा, तत्कालिक राजा, राजकुमार, अन्य मतावलम्बी आदि की जानकारी भी प्राप्त होती है।

कलाओं की दृष्टि से वास्तुकला, शिल्पकला, ज्योतिष-विद्या, भूगोल, खगोल, संगीत, नाट्य, प्राणिविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान आदि विभिन्न विद्याओं से जैन-आगम साहित्य पर्याप्त रूप से समृद्ध है। इस तरह आगमों की विशद और व्यापक सामग्री का गहराई से अध्ययन किया जाय तो इसके महत्त्व का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। स्थूल रूप से इसकी उपयोगिता को निम्न वर्गों में बाँटा जा सकता है :—

(१) आध्यात्मिक मूल्य—जैन आगमों का मूल उद्देश्य ही आध्यात्मिक शांति प्राप्त करना रहा है। इनमें सामान्य जन-जीवन के लिए आत्म साधना का सरलतम मार्ग प्रस्तुत है। "डॉ० हर्मन जेकोबी, डॉ० शुब्रिग आदि भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि जैनागमों में दर्शन एवं जीवन, आचार एवं विचार, भावना एवं कर्तव्य का जैसा समन्वय है, वैसा अन्य साहित्य में नहीं है।"[१] इसी कारण जैनागमों ने अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अनेकान्त को प्रचारित किया है।

(२) दार्शनिक-दृष्टि—जैनागमों में सूत्रकृतांग, स्थानांग, भगवती, समवायांग, प्रज्ञापना, राजप्रश्नीय एवं नन्दी सूत्र ऐसे आगम ग्रन्थ हैं, जिनमें दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। सूत्रकृतांग में परमतावलम्बियों का निराकरण कर स्वमत की स्थापना की गयी है। उसमें जगत् की उत्पत्ति ईश्वरीय न होकर अनादि अनन्त है, इस सिद्धान्त को पुष्ट किया गया है। भगवती सूत्र में आत्मा, पुद्गल ज्ञान के प्रकार, नय आदि का विवेचन है।

---

१. शास्त्री, देवेन्द्र मुनि-जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, पृष्ठ ४

(३) धार्मिक-विवेचन—आगमों का प्रमुख उद्देश्य धार्मिकता का प्रतिपादन रहा है। इनमें साधुओं[१] एवं श्रावकों के आचार-विचार,[२] साधुओं के प्रकार[३] और विभिन्न धर्मो एवं उनके मत-मतान्तरों का उल्लेख आया है।[४]

(४) सांस्कृतिक व सामाजिक सामग्री—जैन आगमों में ईस्वी पू० ५वीं शती से ईसा की ५ वी शती तक के रहन-सहन,[५] खान-पान, कुटुम्ब-परिवार, शिक्षा[६] एवं विद्याभ्यास,[७] रीति-रिवाज आदि के वारे में महत्त्व-पूर्ण जानकारी प्राप्त होती है।

(५) भौगोलिक विवरण—जैनागमों से भौगोलिक स्थिति के वारे में भी जानकारी प्राप्त होती है। भारत व अन्य सीमावर्ती प्रदेशों के वारे में ज्ञान होता है। जैन श्रमण पूर्व में अंग, मगध, दक्षिण में कोशाम्वी, उत्तर में उत्तर कौशल सीमाओं में विहार करते थे।[८] वृहत्कल्पभाष्य में २५½ आर्य क्षेत्र का वर्णन प्राप्त होता है।[९]

(६) कलात्मक दृष्टि—जैन आगमों में ७२ कलाओं का विस्तृत वर्णन उपलव्ध होता है।[१०] इसके अतिरिक्त चित्रकला, मूर्तिकला, संगीतकला, स्थापत्य, आदि के सम्वन्ध में विविध वर्णन आगम साहित्य में प्राप्त होता है।[११]

इस तरह जैन आगमों में आध्यात्म और वैराग्य के उपदेशों के साथ-साथ सामान्य मानव के क्रियाकलापों षड्आवश्यक, स्वाध्याय, ध्यान, तप,

---

१. आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध।
२. उवासगदसाओ–(सं०) मुनि मधुकर,–प्रथम अध्याय
३. आचारांगचूर्णि, २/१
४. सूत्रकृतांगसूत्र–(सं०) मुनि मधुकर, १/१२/१
५. वृहत्कल्पभाष्य, ४/५१४७
६. उत्तराध्ययनटीका, ४, पृष्ठ ८३
७. कल्पसूत्रटीका, ४, पृष्ठ ९०
८. वृहत्कल्पसूत्र, १/५०
९. वृहत्कल्पभाष्य, १/३२७५-८९
१०. क. ज्ञाताधर्मकथा, १, पृष्ठ २१; ख. समवायांग, पृष्ठ ७७ आदि
११. जैन, जगदीशचन्द्र, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृष्ठ ३००

त्याग का उपदेश सन्निहित हैं। इन धार्मिक उपदेशों के अलावा भी दर्शन, नीति, संस्कृति. सभ्यता, भूगोल, खनिज, गणित, इतिहास, आयुर्वेद, नाटक आदि जीवन के हर पहलू को छूने वाले प्रसंग आगम साहित्य में प्रभूत परिमाण में मिल जाते हैं।

आगमों की मौखिक-परम्परा, विच्छेद-क्रम, वाचनाएँ एवं लेखन-परम्परा

(क) आगमों की मौखिक परम्परा—

आज से २५०० वर्ष व उससे भी पहले से जिज्ञासुजन अपने-अपने धर्म-शास्त्रों को विनय व आदरपूर्वक अपने गुरुओं से श्रवण करते थे और इस प्रकार श्रवण किये गये शास्त्रों को कण्ठाग्र करते एवं उन पाठों को स्वाध्याय के माध्यम से स्मरण रखते थे। धर्मशास्त्रों की भाषा का उच्चारण शुद्ध हो, इसका पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता था। कहीं मात्रा, अनुस्वार, विसर्ग व्यर्थ प्रविष्ठ नहीं हो तथा न उनका लोप हो, इसका सावधानीपूर्वक ध्यान रखा जाता था।

जैन-परम्परा में सूत्रों की पद संख्या का खास विधान था। सूत्रों का उच्चारण किस प्रकार किया जाय व उच्चारण करते समय किन-किन दोषों से दूर रहना चाहिए, इसकी भी पूरी-पूरी जानकारी रखी जाती थी।

इस प्रकार विशुद्ध रीति से संचित श्रुत-साहित्य को गुरु अपने शिष्यों को सौंपते व शिष्य पुनः उस ज्ञान को अपने प्रशिष्यों को सौंपते थे। इस तरह यह धर्मशास्त्र स्मृति द्वारा ही सुरक्षित रखे जाते थे। वर्तमान में इन शास्त्रों के लिए श्रुत, स्मृति व श्रुति आदि शब्दों का उल्लेख इसका ज्वलंत प्रमाण है। जैसे ब्राह्मण-परम्परा में पूर्व के शास्त्रों को श्रुति व उसके बाद के शास्त्रों को स्मृति कहा जाता है, वैसे ही श्रमण-परम्परा में मुख्य प्राचीन शास्त्रों को 'श्रुत' कहा जाता है। आचारांग के 'सुयं मे' शब्द से स्पष्ट है कि ये शास्त्र सुने हुए हैं और सुनते-सुनते चलते आये हैं।[1]

(ख) मौखिक-परम्परा ही क्यों ?

प्रसिद्ध पुरातत्वज्ञ और लिपिशास्त्री महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीरा-

---

१. आचारांगसूत्र—(सं०) मुनि मधुकर, सूत्र १/१

चन्द ओझा का मत है कि ताड़पत्र, कागज, स्याही, लेखनी आदि का परिचय व प्रयोग हमारे पूर्वजों को प्राचीन काल से ही ज्ञात था।[1] जैन शास्त्रों को लिखने का सामर्थ्य भी जैनाचार्यों में था, फिर भी स्मरण रखने का मानसिक भार क्यों उठाया गया? इसके उत्तर में यही कहा जाता है कि इस लेखन भार को न उठाने में जैन साधुओं की आचारचर्या व साधना बाधक रही है। विशेष रूप से निम्न पहलू द्रष्टव्य हैं :—

१. अहिंसा का पालन—जैन साधक मन, वचन, काय द्वारा हिंसा न करने, न करवाने व अनुमोदन न करने की प्रतिज्ञा करते हैं। आचारांग आदि साधुचर्या के मूल ग्रन्थों से मालूम होता है कि साधु ऐसी वस्तु स्वीकार नहीं करता जिसमें तनिक भी हिंसा की संभावना होती हो।

२. परिग्रह की संभावना—जैन साधक के हिंसा एवं परिग्रह की संभावना होने से निर्वाण में बाधाएँ उपस्थित होती है इस कारण लेखन की उपेक्षा की। बृहत्कल्पसूत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि पुस्तक रखने से प्रायश्चित्त आता है।[2]

३. आन्तरिक तप—पुस्तकों के रहने से श्रमण धर्मवचनों का स्वाध्याय कार्य नहीं करते। धर्मवचनों को कंठस्थ कर उनका बार-बार स्वाध्याय एक तप है, पुस्तक रखने से यह तप मन्द पड़ने लग जाता है और साधक शुद्ध-अशुद्ध बोलकर एक औपचारिकता मात्र पूरा करने लग जाता है, अतः यह उचित नहीं माना गया।

(ग) आगमों का विच्छेद-क्रम—

महावीर के परिनिर्वाण के पश्चात् श्रमणों के क्रिया-कलापों में आचार-विचारों में निष्क्रियता आने लगी। जैन धर्म सम्प्रदायों में विभाजित होकर अचेलक व सचेलक परम्पराओं में बट गया। श्रमण अपरिग्रह को छोड़ कर परिग्रह धारण करने लगे। बीच-बीच में प्रकृति के प्रकोप के कारण भी धर्मशास्त्रों का यथावत् स्वाध्याय करना कठिन होता गया। इस कारण आगम-विच्छेद का क्रम शुरू हुआ। इस आगम-विच्छेद के बारे में दो मत प्रचलित हैं। प्रथम के अनुसार श्रुतधारक ही लुप्त होने लगे।[3]

---

१. ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द — भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृष्ठ १-१६

२. दोशी, बेचरदास—जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १, पृष्ठ ६-७

३. नन्दीचूर्णि, पृष्ठ ८

जयधवला[1] व धवला[2] के अनुसार श्रुतधारकों के विलुप्त हो जाने से श्रुत विलुप्त हो गया।

श्वेताम्वर-दिगम्वर-परम्परा के अनुसार अंतिम श्रुतकेवली भद्रवाहु स्वामी थे। जिनका स्वर्गवास श्वेताम्वर मान्यतानुसार वीरनिर्वाण के १७० वर्ष वाद व दिगम्वर मान्यतानुसार वीर निर्वाण के १६२ वर्ष वाद होना माना गया है। इन्हीं के स्वर्गवास के साथ चतुर्दश पूर्वधर या श्रुतकेवली का लोप हो गया और आगम-विच्छेद का क्रम आरम्भ हुआ। वीर निर्वाण संवत् २१६ में स्थूलिभद्र स्वर्गस्थ हुए। इसके वाद आर्य व्रजस्वामी तक दस पूर्वो की परम्परा चली, वे वीर निर्वाण संवत् ५५१ (विक्रम संवत् ८१) में स्वर्ग सिधारे।[3] इनके साथ ही दस पूर्व भी नष्ट हो गये।

यह भी माना जाता है कि आर्य व्रजस्वामी का स्वर्गवास वीर निर्वाण संवत् ५८४ अर्थात् विक्रम संवत् ११४ हुआ।[4] दिगम्वर मान्यतानुसार अंतिम दस पूर्वधर धरसेन हुए और उनका स्वर्गवास वीर निर्वाण ३४५ में हुआ अर्थात् श्रुतकेवली का विच्छेद दिगम्वर-परम्परा में श्वेताम्वर-परम्परा की अपेक्षा ८ वर्ष पूर्व ही मान लिया गया; साथ ही दस पूर्वधरों का विच्छेद दिगम्वर परम्परा में श्वेताम्वर परम्परा की अपेक्षा २३९ वर्ष पूर्व माना गया।[5]

(घ) आगम-वाचनाएँ—

भगवान महावीर के निर्वाण के वाद उनके उपदेश मौखिक परम्परा से सुरक्षित रहे। गणधरों ने उनके उपदेश-वचनों को आगम ग्रन्थों के रूप में प्रस्तुत किया है। किन्तु वर्तमान में जो हमें आगम उपलब्ध हैं उनको वर्तमान स्वरूप प्राप्त करने में लम्वा समय लगा है, इसके लिए जैनाचार्यों ने कई आगम-वाचनाएँ की हैं। जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

---

१. जयधवला, पृष्ठ ८३

२. धवला, पृष्ठ ६५

३. शास्त्री, देवेन्द्र मुनि—जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, पृष्ठ ३९

४. क. मालवणिया, दलसुख—आगम युग का जैन दर्शन, पृष्ठ १६
   ख. उपासकदशांगसूत्र—(सं०) मुनि आत्माराम, प्रस्तावना, पृष्ठ ९

५. उपासकदशांगसूत्र—(सं०) मुनि आत्माराम, प्रस्तावना, पृष्ठ ९

प्रथम वाचना—वीर निर्वाण १६० के आसपास जैन-संघ को भयंकर दुष्काल से जूझना पड़ा। जिससे समस्त श्रमण-संघ छिन्न-भिन्न हो गया। दुर्भिक्ष के कारण साधु आहार की तलाश में सुदूर देशों की ओर चले गये। दुष्काल समाप्त होने पर विच्छिन्न श्रुत को संकलित करने के लिए वीर निर्वाण १६० वर्ष पश्चात् श्रमणसंघ आचार्य स्थूलिभद्र के नेतृत्व में एकत्रित हुआ। इसका सर्वप्रथम उल्लेख तित्थोगाली में प्राप्त होता है।[1] पाटलिपुत्र में प्रथम वार श्रुत-ज्ञान को व्यवस्थित करने का प्रयास किया गया। जिससे इसे 'पाटलिपुत्र वाचना' नाम दिया गया। यहाँ एकत्रित श्रमणसंघ ने परस्पर विचार संकलन कर ग्यारह अंग संकलित किये।[2] बाहरवें अंग दृष्टिवाद का ज्ञान किसी को नहीं था। उस समय दृष्टिवाद के ज्ञाता सिर्फ भद्रबाहु ही थे, जो नेपाल की गिरि-कंदराओं में महाप्राण नामक ध्यान की साधना कर रहे थे।[3] उनसे दृष्टिवाद का ज्ञान लेने के लिए श्रमणसंघ नेपाल में भद्रबाहु की सेवा में उपस्थित हुआ और दृष्टिवाद की वाचना देने का निवेदन किया परन्तु भद्रबाहु ने आचार्य होते हुए भी संघ के दायित्व से उदासीन होकर कहा—मेरा आयुष्य अल्प समय का है जिससे मैं वाचना देने में असमर्थ हूँ।[4] इससे श्रमणसंघ क्षुब्ध हो उठा और यह कहकर लौट आया कि संघ की प्रार्थना अस्वीकार करने से आपको प्रायश्चित्त लेना होगा।[5] पुनः एक श्रमणसंघाटक ने भद्रबाहु के पास आकर निवेदन कर संघ की प्रार्थना दोहराई तो भद्रबाहु एक अपवाद के साथ वाचना देने को तैयार हुए,[6] कि वाचना मंदगति से अपने समयानुसार प्रदान करेंगे। इस पर भद्रबाहु, स्थूलिभद्र आदि ५०० शिक्षार्थियों को एक दिन में सात बार-

---

१. तित्थोगाली, गाथा ७१४

२. "जं जस्स आसि पासे उद्देसज्झयणगाइ तं सव्वं।
संघडियं एक्कारसंगाइं तहेव ठवियाइं॥
—उपदेशमालाविशेषवृत्ति, पत्रांक २४१, गाथा २४

३. नेपाल वत्तणीए य भद्दबाहुसामी अच्छंति चौद्दसपुव्वी।
—आवश्यकचूर्णि, भाग २, पृष्ठ १८७

४. तित्थोगाली, गाथा २८-२९

५. वही, गाथा २८-२९

६. वही, गाथा ३५-३६

प्रथम एक भिक्षाचर्या जाते-आते समय, द्वितीय-तीन वाचनाएँ विकालवेला में, तीसरी तीन वाचनाएँ प्रतिक्रमण के बाद रात्रि में देते थे।[1]

वाचना प्रदान करने का यह क्रम बहुत मंद होने से मुनियों का धैर्य टूट गया। ४९९ शिष्य वाचना को बीच में ही छोड़कर चले गये, परन्तु स्थूलि-भद्र निष्ठा से अध्ययन में लगे रहे और आठ वर्षो में आठ पूर्वों का अध्ययन कर लिया।[2]

इस तरह दस पूर्वों की वाचना हो चुकी थी तव साधनाकाल पूर्ण हो जाने से भद्रवाहु पाटलिपुत्र आये। वहाँ यक्षा आदि साध्वियां दर्शनार्थ आयी, वहीं पर स्थूलिभद्र ने सिंह का रूप धारण करके चमत्कार दिखाया।[3] यह वात भद्रवाहु को ज्ञात होते ही आगे वाचना देना वंद कर दिया और कहा कि ज्ञान का अहं विकास में वाधक है। स्थूलिभद्र द्वारा क्षमा माँगने व अत्यधिक अनुनय-विनय करने पर शेप चार पूर्वो की वाचना केवल शब्द रूप में प्रदान की,[4] इस प्रकार पाटलिपुत्र वाचना में दृष्टिवाद सहित अंग साहित्य को ही व्यवस्थित करने का प्रयत्न हुआ था।

द्वितीय वाचना—आगम संकलन हेतु दूसरी वाचना ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी अर्थात् वीर निर्वाण ३०० से ३३० के मध्य मे हुई। उड़ीसा के सम्राट खारवेल थे, जो जैन धर्म के उपासक थे। उन्होंने उड़ीसा के कुमारी पर्वत पर जैन मुनियों का सम्मेलन वुलाकर मौर्यकाल में जो अंग विस्मृत हो गये थे, उन्हें संकलित कराया। इस वाचना के प्रमुख सुस्थित व सुप्रतिवुद्ध थे, ये दोनों सहोदर थे।[5]

---

१. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ९, गाथा ७०

२. "श्री भद्रवाहुपादान्ते स्थूलभद्रो महामतिः।
पूर्वाणामष्टकं वर्षैरपाठीदष्टभिर्भृशम्॥ — परिशिष्ट पर्व, सर्ग ९—स्थानांगसूत्र मधुकर मुनि से उद्धृत

३. परिशिष्टपर्व, सर्ग ९, गाथा ८१

४. "अह भणइ थूलभद्दो अण्णं रुवं न किंचि कहामो इच्छामि जाणिउं जे, अहं चत्तारि पुव्वाइं। —तित्थोगालीपइन्ना, ८००

५. हिमवन्तथेरावली, गाथा १०

हिमवन्त थेरावली के अलावा अन्य किसी ग्रन्थ में इसका उल्लेख नहीं है। किन्तु खण्डगिरि व उदयगिरि में जो शिलालेख उत्कीर्ण हैं, उससे स्पष्ट है कि आगम संकलन हेतु यह सम्मेलन किया गया था।[1]

तृतीय वाचना – वीर निर्वाण ८२७-८४० के पूर्व भी एक बार और भयंकर दुष्काल पड़ा, जिससे अनेक जैन श्रवण परलोकवासी हो गये और आगमों का कण्ठस्थीकरण यथावत् नहीं रह पाया। इसलिए इस दुर्भिक्ष की समाप्ति पर वीर निर्वाण ८२७-८४० के मध्य मथुरा में आर्य स्कन्दिल के नेतृत्व में श्रमण संघ एकत्रित हुआ।[2]

इस सम्मेलन में मधुमित्र, संघहस्ति प्रभृति आदि १५० श्रमण उपस्थित थे, परन्तु आचार्य स्कन्दिल ही समस्त श्रुतानुयोग को अंकुरित करने में महामेघ के समान यानी इष्ट वस्तु के प्रदाता थे।[3]

जिनदासगणि महत्तर[4] ने लिखा है कि दुष्काल के आघात से केवल स्कंदिल ही अनुयोगधर बच पाये, उन्होंने ही मथुरा में अनुयोग का प्रवर्तन किया। अतः यह वाचना 'स्कन्दिली वाचना' नाम से जानी जाती है।

प्रथम वाचना के समय जैनों का प्रमुख केन्द्र बिहार और दूसरी वाचना का केन्द्र उड़ीसा था। परन्तु निरन्तर दुष्कालों के पड़ने से यह केन्द्र बिहार से स्थानान्तरित होकर पश्चिमी उत्तर-प्रदेश हो गया।[5]

चतुर्थ वाचना—मथुरा सम्मेलन के समय अर्थात् वीर निर्वाण ८२७-८४० के आस-पास वल्लभी में नागार्जुन की अध्यक्षता में भी

---

१. क. दोशी, बेचरदास-जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, पृष्ठ ८२
   ख. साध्वी संघमित्रा—जैन धर्म के प्रभावक आचार्य, पृष्ठ १०-११

२. "इत्थ दूसहदुब्भिक्खे दुवालसवारिसिए नियत्ते सयलसंघं मेलिअ आगमाणओगो पवित्तिओ खंदिलायरियेण"–विविध तीर्थकल्प, पृष्ठ १९

३. प्रभावकचरित्र, पृष्ठ ५४

४. नन्दीचूर्णि, पृष्ठ ९, गाथा ३२

५. क. नन्दीसूत्र, मलयगिरिवृत्ति, गाथा ३३, पृष्ठ ५१
   ख. नन्दीचूर्णि, पृष्ठ ९

एक आगम संकलन का प्रयास हुआ।[1] जो 'नागार्जुनीय वाचना' के नाम से विख्यात है। इसका उल्लेख भद्रेश्वर रचित कहावली ग्रन्थ में मिलता है।[2] चूर्णियों में भी नागार्जुन नाम से पाठान्तर मिलते हैं। पण्णवणा जैसे अंगबाह्य सूत्रों में भी इस प्रकार के पाठान्तरों का निर्देश है।[3] आचार्य देववाचक ने भी भावपूर्ण शब्दों में नागार्जुन की स्तुति की है।[4]

पंचम वाचना—वीर निर्वाण के ९८० वर्षों के बाद लोगों की स्मृति पहले से दुर्बल हो गयी, अतः उस विशाल ज्ञान भण्डार को स्मृति में रखना कठिन हो गया। अतः वीर निर्वाण ९८० या ९९३ (सन् ४५४ या ४६६) में देवर्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में श्रमणसंघ एकत्रित हुआ और स्मृति में शेष सभी आगमों को संकलित किया और साथ ही साथ पुस्तकारूढ़ भी कर दिया गया।[5] यह पुस्तक रूप में लिखने का प्रथम प्रयास था। कहीं-कहीं पर यह उल्लेख भी आता है कि आचार्य स्कन्दिल व नागार्जुन के समय ही आगम पुस्तकारूढ़ कर दिये गये थे।[6]

वर्तमान में जो आगम उपलब्ध हैं वे देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की वाचना के हैं और उसके बाद उनमें परिवर्तन व परिवर्द्धन नहीं हुआ, ऐसा माना जाता है।[7] किन्तु शोध की दृष्टि से कुछ ऐसे स्थल भी मिले हैं जो आगमों में इसके बाद भी प्रक्षिप्त किये गये हैं। उदाहरण के रूप में वर्तमान प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु का उल्लेख नन्दीचूर्णि के पूर्व कहीं भी नहीं मिलता है। अनुयोगद्वारसूत्र में द्रव्यश्रुत व भावश्रुत का उल्लेख है, यहाँ पुस्तकलिखित श्रुत को द्रव्यश्रुत माना गया है।[8]

---

१. जैन, डा० हीरालाल—भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृष्ठ ५५
२. मालवणिया, पं० दलसुख—जैन दर्शन का आदिकाल, पृष्ठ ७
३. वही, पृष्ठ ७
४. क. नन्दीसूत्र, गाथा ३५ ख. योगशास्त्र, प्रकाश ३, पृष्ठ २०७
५. स्थानांगसूत्र, (सं०) मधुकर मुनि, प्रस्तावना, पृष्ठ २७
६. "जिनवचनं च दुष्षमाकालवशादुच्छिन्न-प्रायमिति मत्वा भगवद्‌भिर्नागार्जुन-स्कन्दिलाचार्य्य-प्रभृतिभिः पुस्तकेषु न्यस्तम्।"
—योगशास्त्र, प्रकाश ३, पृष्ठ २०७
७. दशवैकालिक भूमिका—आचार्य तुलसी, पृष्ठ २७
८. "से किं तं—दव्वसुअं ? पत्तयपोत्थयलिहिअं"—अनुयोगद्वारसूत्र

(ङ) आगम लेखन-परम्परा—

लिपि का प्रादुर्भाव प्रागैतिहासिक काल में ही हो चुका था। प्रज्ञापनासूत्र में अठारह लिपियों का उल्लेख आता है।[१] भगवतीसूत्र में भी मंगलाचरण में ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया गया है।[२] अतः यह स्पष्ट है कि लेखन कला व सामग्री का विकास या अस्तित्व आगम लेखन से पूर्व ही था, किन्तु आगमों को लिखने की परम्परा न होकर कण्ठाग्र करने की परम्परा थी, जिसके कारणों का निर्देश पूर्व में किया जा चुका है। यही परम्परा बौद्ध व वेदों के लिए भी थी इसी कारण इन तीनों में 'श्रुत' 'सुत्त' व 'श्रुति' शब्द प्राचीन ग्रन्थों के लिए प्रयुक्त हुआ है।[३]

आगमों को लिपिबद्ध करने का स्पष्ट उल्लेख देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के पूर्व प्राप्त नहीं होता है। पूर्व में लेखन की परम्परा नहीं होने से भी आगमों का विच्छेद नहीं हो जाय, एतदर्थ लेखन व पुस्तक रखने का विधान किया गया और बाद में आगम लिखे गये।[४] इस प्रकार आगम लेखन की दृष्टि से ईसा की पाँचवीं शताब्दी महत्त्वपूर्ण है।

आगमों का वर्गीकरण एवं परिचय

(क) सर्वप्रथम आगमों के भेद समवायांगसूत्र में प्राप्त होते हैं। वहाँ पूर्वों की संख्या चौदह[५] व अंगों की संख्या बारह[६] बतलाई गई है। अभयदेववृत्ति के अनुसार द्वादशाङ्गी के पहले पूर्वसाहित्य निर्मित किया गया, इस कारण इनका नाम पूर्व पड़ा।[७] अंग शब्द जैन परम्परा में आगम ग्रन्थों

१. प्रज्ञापना, पद–१
२. "नमो बंभीए लिविए"–भगवतीसूत्र, मंगलाचरण
३. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि—जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, पृष्ठ ४२
४. "कालं पुण पडुच्च चरणकरणट्ठा अवोच्छि त्ति।
निमित्तं च गेण्हमाणस्स पोत्थए संजमो भवइ॥—दशवैकालिकचूर्णि, पृष्ठ २१
५. "चउदस पुव्वा पण्णत्ता तंजहा"–समवायांग, समवाय, १४
६. "दुवालसंगे गणिपिडगे पण्णत्ता तंजहा"—समवायांग, समवाय, १३६
७. क. सर्वश्रुतात् पूर्वं क्रियते इति पूर्वाणि, उत्पादपूर्वाऽदीनि चतुर्दश"
—स्थानांगसूत्रवृत्ति, १०/१
ख. "प्रथमं पूर्वं तस्य सर्वप्रवचनात् पूर्वं क्रियमाणत्वात्"
—समवायांगवृत्ति, पत्र १०१

के लिए प्रयुक्त हुआ है।[1]

(ख) आगमों का दूसरा वर्गीकरण देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के समय अर्थात् वीर निर्वाण के १००० वर्ष के आसपास का है जिनमें अंग-प्रविष्ठ व अंग-वाह्य ये दो भेद किये हैं।[2]

नन्दीसूत्र में आगमों का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है।[3]

(क्रमशः पृष्ठ १६ पर)

---

१. दुवालसंगे गणिपिडगे—समवायांगसूत्र, समवाय ८८

२. "अहवा तं समवाओ दुविहं पण्णतं, तंजहा—अंगपविट्ठं अंगवाहिरं च"
—नन्दीसूत्र,–(सं०) मुनि मधुकर, पृष्ठ १६०

३. नन्दीसूत्र—(सं०) मुनि मधुकर, सूत्र ८२, पृष्ठ १६५

कालिक	उत्कालिक
उत्तराध्ययन	दशवैकालिक
दशाश्रुतस्कन्ध	कल्पिकाकल्पिक
कल्प	चुल्लकल्पश्रुत
व्यवहार	महाकल्पश्रुत
निशीथ	औपपातिक
महानिशीथ	राजप्रश्नीय
ऋषिभाषित	जीवाभिगम
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति	प्रज्ञापना
द्वीपसागरप्रज्ञप्ति	महाप्रज्ञापना
चन्द्रप्रज्ञप्ति	प्रमादाप्रमाद
क्षुल्लिकाविमानप्रविभक्ति	नन्दी
महाल्लिकाविमानप्रविभक्ति	अनुयोगद्वार
अंगचूलिका	देवेन्द्रस्तव
वैगचूलिका	तंदुलवैचारिक
विवाहचूलिका	चन्द्रवेध्यक
अरुणोपपात	सूर्य-प्रज्ञप्ति
वरुणोपपात	पौरुषीमंडल
गरुड़ोपपात	मण्डलप्रवेश
धरणोपपात	विद्याचरण विनिश्चय
वेश्रवणोपपात	गणिविद्या
वेलन्धरोपपात	ध्यानविभक्ति
देवेन्द्रोपपात	मरणविभक्ति
उत्थानश्रुत	आत्मविशोधि
समुत्थानश्रुत	वीतरागश्रुत
नागपरितापनिका	संलेखनाश्रुत
निरयावलिका	विहारकल्प
कल्पिका	चरणविधि
कल्पावतंसिका	आतुर प्रत्याख्यान
पुष्पिका	महाप्रत्याख्यान
पुष्पचूलिका	
वृष्णिदशा	

(ग) तत्त्वार्थसूत्रवृत्ति में दिगम्बर मतानुसार आगमों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है[1] :—
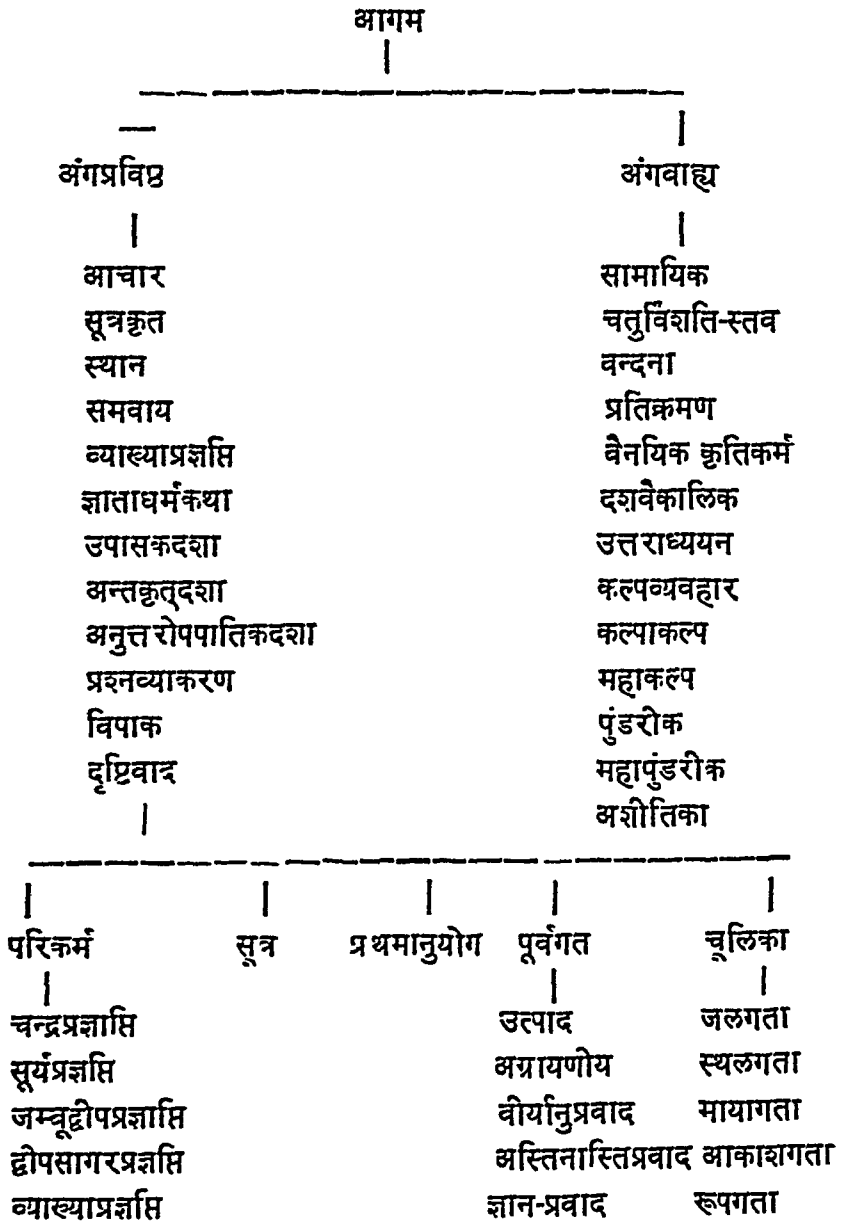
1. तत्त्वार्थसूत्र—श्रुतसागरीवृत्ति, १/२०

पूर्वगत

सत्यप्रवाद
आत्मप्रवाद
कर्मप्रवाद
प्रत्याख्यानप्रवाद
विद्यानुप्रवाद
कल्याण
प्राणावाय
क्रियाविशाल
लोकविन्दुसार

(घ) दिगम्बर परम्परा में मूल आगमों का लोप माना गया है। फिर भी शौरसेनी प्राकृत में रचित कुछ ग्रन्थों को आगम जितना महत्व दिया गया है व इन्हें वेद की संज्ञा देकर चार अनुयोगों में विभक्त किया है :-

(क) प्रथमानुयोग—पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, आदिपुराण व उत्तरपुराण आदि ग्रन्थ

(ख) करणानुयोग—सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जयधवला आदि ग्रन्थ

(ग) चरणानुयोग—मूलाचार, त्रिवर्णाचार, रत्नकरण्डक श्रावकाचार आदि ग्रन्थ

(घ) द्रव्यानुयोग—प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, आप्तमीमांसा आदि ग्रन्थ

(ङ) एक अन्य दृष्टि से आगमों के सुत्तागम, अर्थागम और तदुभयागम ये तीन भेद भी अनुयोगद्वारसूत्र में मिलते हैं।[२]

---

१. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि—जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, पृष्ठ १८

२. क अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते—तंजहा-सुत्तागमे य अत्थागमे य तदुभयागमे य —अनुयोगद्वारसूत्र, ४७०

ख. आवश्यकसूत्र अध्याय १ सूत्र ४

(च) आगमों का सबसे उत्तरवर्ती वर्गीकरण अंग, उपांग, मूल व छेद के रूप में माना जाता है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थभाष्य में "अन्यथा हि अनिबद्धमंगोपांगशः समुद्रप्रतरणवद्दुरध्यवसेयं स्यात्" कहकर अंग के साथ उपांग शब्द का भी प्रयोग किया है।[1] प्रभावक चरित्र में, जो वि. संवत् १३३४ का रचित है, सर्वप्रथम अंग, उपांग, मूल व छेद के रूप में आगमों का वर्गीकरण देखने को मिलता है।[2] मूल रूप से जो बारह अंग ग्रन्थ हैं उन्हीं के अर्थों को स्पष्ट करने के लिए उपांगों की रचना हुई है ऐसा माना जाता है।[3]

मूलसूत्रों के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों की अलग-अलग धारणाएँ हैं। समयसुन्दरगणि ने दशवैकालिक, ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति व उत्तराध्ययन को मूल सूत्र माने हैं। डॉ० सारपेन्टियर, डॉ० विन्टरनित्ज और डॉ० ग्यारीनो ने उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक व पिण्डनिर्युक्ति को मूल सूत्र माना है।[4] डॉ० शुब्रिंग ने उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक, पिण्डनिर्युक्ति व ओघनिर्युक्ति को मूलसूत्र माना।[5]

स्थानकवासी व तेरापन्थ सम्प्रदाय उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नन्दी व अनुयोगद्वार को मूल सूत्र मानते हैं।[6]

छेद सूत्रों का प्रथम उल्लेख आवश्यकनिर्युक्ति में हुआ है।[7] समाचारी शतक में समयसुन्दरगणि ने दशाश्रुतस्कन्ध, व्यवहार, बृहत्कल्प, निशीथ,

---

१. तत्त्वार्थभाष्य, १/२०

२. ततश्चतुर्विधः कार्योऽनुयोगोऽतः परं मया।
ततोऽङ्गोपाङ्गमूलाख्यग्रन्थच्छेदकृतागमः ॥
—प्रभावकचरित्त, दूसरा आर्यरक्षित प्रबन्ध

३. "अङ्गार्थस्पष्टबोधविधायकानि उपांगानि"—औपपातिक टीका

४. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि—जैन आगम साहित्य मनन व मीमांसा, पृष्ठ २२

५. कापड़िया, एच० आर०—ए हिस्ट्री ऑफ दी केनोनिकल लिट्रेचर आफ दी जैन्स, पृ० ४४-४५

६. मेहता, डा० मोहन लाल—जैन दर्शन, पृष्ठ ८९

७. "जं च महाकप्पसुयं, जाणि असेसाणि छेअसुत्ताणि चरणकरणाणुओगो त्ति कालियत्थे उवगयाणि"—आवश्यकनिर्युक्ति, ७७७

महानिशीथ व जीतकल्प को छेद सूत्र माना है।[1] जीतकल्प को छोड़कर बाकी पाँचों का उल्लेख नन्दीसूत्र में भी हुआ है।[2] स्थानकवासी परम्परा में दशाश्रुतस्कन्ध, व्यवहार, वृहत्कल्प व निशीथ ये चार ही छेद सूत्र माने जाते हैं।

जैन आगम साहित्य की संख्या के सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं। श्वेताम्बर स्थानकवासी व तेरापन्थ सम्प्रदाय बत्तीस आगम मानता है, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय पैंतालीस आगम मानते हैं, इनमें ही कुछ गच्छ चोरासी आगम भी मानते हैं। दिगम्बर परम्परा आगम के अस्तित्व को स्वीकार तो करती है, परन्तु उनकी मान्यतानुसार सभी आगम विच्छिन्न हो गये हैं।

इस प्रकार जैन साहित्य में आगमों को प्रमुख व सर्वोच्च सम्मान प्राप्त है। तीर्थंकर और केवलज्ञानियों ने जो अपने प्रत्यक्ष ज्ञान से हेय, ज्ञेय, उपादेय को जैसा देखा, वैसा प्रतिपादित किया, जिसे गणधर व अन्य शिष्यों के द्वारा पहले श्रुत रूप से व बाद में लिपि रूप में संकलित किया गया। इस श्रुत परम्परा व लिखित परम्परा के मध्य, काल के प्रभाव से कुछ श्रुत विच्छिन्न भी हुए परन्तु फिर भी बहुत कुछ शेष रहे। उसी के आधार पर बत्तीस, पैंतालीस व चौरासी आगमों की रचना हुई। इन आगमों में श्रमण व गृहस्थजीवन के प्रत्येक पहलू विशेष रूप से आध्यात्मिक व धार्मिकता को छूने वाले प्रसंग हैं। व्यक्ति अपना आत्म-कल्याण कैसे करें, इसके विभिन्न आयाम प्रतिपादित हैं। दिगम्बर परम्परा आगमों को विलुप्त मानती है, वे केवल बारहवें अंग दृष्टिवाद के कुछ अंश को मानकर उसी के आधार पर आगम रूप में मान्य उनके ग्रन्थों की रचना हुई, ऐसा बताते हैं।

●

---

१. समाचारीशतक-आगम स्थापनाधिकार

२. "कालियं अणेगविहं पण्णत्तं, तंजहा-दसाओकप्पो, ववहारो, निसीहं, महानिसीहं" — नन्दीसूत्र, ७७

द्वितीय-अध्याय

उपासकदशांग का परिचय

उपासकदशांग की पाण्डुलिपियां एवं परिचय

आगम अंग साहित्य में उपासकदशांग सूत्र सातवां आगम ग्रन्थ है। श्रावक आचार का प्रतिपादक होने से इसे आचारांगसूत्र का पूरक कहा जाता है। यह उपासकदशांगसूत्र हमें हस्तलिखित तथा प्रकाशित प्रतियों के रूप में प्राप्त होता है।

उपासकदशांग की पाण्डुलिपियाँ

उपासकदशांग सूत्र की उपलब्ध पाण्डुलिपियों का परिचय विभिन्न सम्पादकों ने अपने संस्करणों में दिया है उसमें से कुछ प्रतियों का परिचय यहाँ दिया जा रहा है :—

(क) **इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी कलकत्ता की प्रति**—यह प्रति इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी, कलकत्ता में है। इसमें चालीस पन्ने हैं। प्रत्येक पन्ने में दस पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्ति में अड़तीस अक्षर हैं। इस पर संवत् १५६४ श्रावण सुदी १४ का समय लिखा हुआ है। प्रति प्रायः शुद्ध है।

(ख) **एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता की प्रति**—यह प्रति बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता की लाइब्रेरी की है। इसकी मूल प्रति बीकानेर महाराजा के ग्रन्थ भण्डार में रखी हुई है उसकी ही यह नकल है।

इस बंगाल वाली प्रति पर फागुन सुदी ९ गुरुवार संवत् १८२४ दिया हुआ है। इसमें कोई टीका भी नहीं है, केवल गुजराती टब्बा अर्थ है। इस प्रति का प्रथम व अन्तिम पत्र बीच के पत्रों से मेल नहीं खाता, अन्तिम पृष्ठ टीका वाली प्रति का है, सूची में दिया गया विवरण इन पृष्ठों से मिलता है, इससे मालूम होता है कि सोसाइटी के लिए किसी दूसरी प्रति से नकल की गई है। बीकानेर सूची में दिये गये संवत् १११७ उस प्रति के लिखने का नहीं अपितु टीका के बनाने का होना चाहिए। यह बहुत सुन्दर लिखी हुई

है। इसमें ८३ पन्ने हैं। प्रत्येक पन्ने में ६ पंक्तियाँ व प्रत्येक पंक्ति में २८ अक्षर हैं। टब्बा साथ में है।

(ग) यति जी (कलकत्ता) की प्रति प्रथम—यह प्रति कलकत्ता में एक यतिजी के पास में है। इसमें ४१ पन्ने हैं, मूलपाठ वीच में लिखा हुआ है, ऊपर व नीचे संस्कृत टीका है। इसमें संवत् १९१६ फाल्गुन सुदी ४ दिया हुआ है। यह प्रति शुद्ध है व ऐसा मालूम होता है कि किसी विद्वान् द्वारा लिखी हुई है। इसका मूल ८१२ श्लोक परिमाण हैं व टीका १०१६ श्लोक परिमाण हैं।

(घ) यति जी (कलकत्ता) की प्रति द्वितीय—यह कलकत्ता में एक यति जी के पास है। इसके ३३ पन्ने हैं। प्रत्येक पन्ने में ९ पंक्तियां व प्रत्येक पंक्ति में ४८ अक्षर हैं। इसका समय मृगसर वदी ५ शुक्रवार संवत् १७४५ दिया हुआ है। यह श्री रेनीनगर में लिखी गयी है। टब्बा साथ में है।[1]

(च) अनूप संस्कृत लाइब्रेरी बीकानेर की प्रतियाँ—अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर, बीकानेर का प्राचीन पुस्तक भण्डार, जो कि पुराने किले में है, में उपासकदशांग की दो प्रतियाँ हैं।

१. लाइब्रेरी पुस्तक नम्बर ९४६७ (उपासगसूत्र) पन्ने २४, प्रत्येक पन्ने में १३ पंक्तियां, एक पंक्ति में ४२ अक्षर, अहमदाबाद आंचलगच्छ श्री गुड़ा पार्श्वनाथ की यह प्रति है। प्रति में समय नहीं दिया गया है। प्रति अशुद्ध है। बाद में शुद्ध किया गया है, इसमें ग्रन्थाग्र परिमाण संख्या ९१२ दी है।

२. अनूप संस्कृत लाइब्रेरी पुस्तक नम्बर ९४६४, उपासकदशावृत्ति पंच पाठ सह, पत्र ३३, श्लोक परिमाण ९००, टीका ग्रन्थाग्र

---

१. उपरोक्त क, ख, ग, घ, ङ इन चारों प्रतियों का परिचय उपासकदशासूत्र-अंग्रेजी अनुवाद सहित—कलकत्ता-ईस्वी सन् १८९० में प्रकाशित संस्करण में प्राप्त होता है। इसका अनुवाद व संशोधन डा० एम. ए. रुडोल्फ हार्नले ट्यूबिजन फेलो आफ कलकत्ता युनिवर्सिटी, आनरेरी फाइलोलोजिकल सेक्रेट्री टू दी एसियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल ने किया है।

९००, प्रत्येक पृष्ठ पर १६ पंक्तियाँ हैं, प्रत्येक पंक्ति में ३२ अक्षर हैं। प्रति पर संवत् नहीं है, परन्तु प्रति प्राचीन है।[1]

(छ) व्यक्तिगत प्रति—यह टब्बायुक्त प्रति मेरी व्यक्तिगत है, जो जिनचन्द्रसूरि के शिष्य हर्षवल्लभ द्वारा लिखी गयी है। इसमें ५२ पृष्ठ हैं। इसके अन्तिम पृष्ठ पर संवत् १९३६ कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की सप्तमी तिथि लिखी हुई है।

उपासकदशांग के प्रकाशित संस्करण

विभिन्न लेखकों, मूर्धन्य मनीषियों व विद्वानों ने आगम साहित्य को जीवन्त रखने के लिए समय-समय पर अपने-अपने दृष्टिकोणों से आगमों को प्रकाशित किया। सभी प्रकाशन अपनी अलग-अलग विशेषताएं लिए हुए हैं। उपासकदशांग के अब तक निम्न संस्करण प्रकाशित हुए हैं :—

१. उपासकदशांग का सबसे प्रथम संस्करण देवनागरी लिपि में मुर्शिदाबाद वाले धनपत सिंह द्वारा प्रकाशित है।

२. उपासकदशांग-सूत्र डॉ० एम० ए० रुडोल्फ हार्नले द्वारा बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता से १८९० ईस्वी में प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ में अंग्रेजी अनुवाद व सम्पादन डॉ० हार्नले द्वारा किया गया है। उपलब्ध पाण्डुलिपियों का विवरण भी इसमें प्राप्त है। साथ ही साथ विस्तृत भूमिका ग्रन्थ में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

३. श्रीमद्अभयदेवाचार्य-विहित-विवरण-युक्त उपासकदशांगम् आगमोदय समिति, महेसाणा से ईस्वी १९२० में प्रकाशित हुआ है। मूलपाठ प्राचीन प्रतीत होता है। साथ में संस्कृत विवरण भी दिया गया है।

४. उपासकदशांग-सूत्र, पी० एल० वैद्य, पूना द्वारा १९३० में प्रकाशित हुआ है।

५. उपासकदशा-सूत्र, आचार्य श्री घासीलालजी म० सा० द्वारा श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन संघ, करांची में ईस्वी सन् १९३६ को प्रकाशित हुआ है। इसमें मूल, संस्कृत छाया बाद में हिन्दी अनुवाद व अन्त में

---

१. उपासकदशांगसूत्र—(सं०) पितलिया, घीसुलाल, पृ० २७।

गुजराती अनुवाद भी दिया है। अनेकानेक विशेषताओं से युक्त इस ग्रन्थ में अनेक पारिभाषिक शब्दों की विस्तृत व्याख्या भी दी गयी है। हाँलाकि शब्दों में शुद्धता का अभाव है, किन्तु भाषा और व्याख्या की दृष्टि से यह ग्रन्थ उपयोगी है।

६. उपासकदशांग-सूत्रम् आत्माराम जी म० सा० द्वारा जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना से ईस्वी संवत् १९६४ में प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ में मूल व संस्कृत छाया के साथ-साथ अन्वयार्थ भी है व बाद में हिन्दी अनुवाद व व्याख्या भी है। उपरोक्त विवेचनाओं के साथ ग्रन्थ की भूमिका बहुत उपयोगी है।

७. उपासकदशांगसूत्र—श्री घीसूलाल पितलिया द्वारा श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना द्वारा ईस्वी सन् १९७७ में प्रकाशित हुआ है। इसमें मूल के हिन्दी अनुवाद के साथ-साथ संक्षिप्त विवेचन भी आख्यायित किया गया है। सामान्य जिज्ञासु पाठकों के लिए यह उपयोगी है।

८. उवासगदसाओ—श्री अभयदेवसूरि द्वारा टीकानुवाद सहित पं० भगवानदास हर्षचन्द द्वारा विक्रम संवत् १९९२ में प्रकाशित हुआ है। यही जैनानन्द पुस्तकालय गोपीपुरा, सूरत द्वारा भी प्रकाशित है। इसमें मूल, अनुवाद व संस्कृत टीकार्थ है। इसके मूल में 'वण्णओ' की जगह 'वणओ' व 'वहिया' की जगह 'वहियो' शब्द प्रयुक्त है।

९. अंगसुत्ताणि-भाग १, २, ३ आचार्य तुलसी व मुनिनथमल द्वारा जैन विश्व भारती, लाडनूं द्वारा संवत् २०३१ में प्रकाशित हुआ है। इस अंगसुत्ताणि भाग ३ में उपासकदशांगसूत्र का मूल है। अर्थ व व्याख्या इसमें नहीं दी गयी है। इसकी एक ही विशेषता है कि मुनि नथमल जी ने विभिन्न पाण्डुलिपियों के आधार पर अपना सम्पादित पाठ दिया है व साथ में आवश्यकतानुसार पाठान्तर भी दिये हैं।

१०. उपासकदशांग—सम्पादक डॉ० जीवराज घोला भाई दोशी, अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित हुआ है।

११. उपासकदशांगसूत्र—पं० मुनि अमोलक ऋषि म० सा० द्वारा जैन संघ, हैदराबाद से वीर संवत् २४४२ से ४६ तक प्रकाशित हुआ है। ग्रन्थ में मूल व हिन्दी अनुवाद ही है। मूल शब्दों में अशुद्धियाँ बहुत हैं।

१२. अंगसुत्ताणि—आचार्य श्री पुफभिक्खु द्वारा सूत्रागम प्रकाशन समिति, जैन स्थानक, रेलवे रोड, गुड़गाँव, पंजाब से सन् १९५३ में प्रकाशित हुआ है। इसमें उपासकदशासूत्र का मूल पाठ ही है। भूमिका में अर्द्ध मागधी की व्याकरण भी है, जिससे विभक्तियों का प्रयोग समझा जा सकता है।

१२. उपासकदशांगसूत्र—साध्वी श्रीउर्वशोवाई द्वारा प्रेम जिनागम प्रकाशन समिति, घाटकोपर वम्बई से विक्रम संवत् २०३१ सन् १९७५ में प्रकाशित हुआ है। इसमें मूल के साथ-साथ गुजरातो अनुवाद दिया गया है।

१४. अर्थागम—भाग १, २, ३ में प्रकाशित इस ग्रन्थ में अंगसुत्ताणि 'सुत्तागमे' का हिन्दी रूपान्तर है। यह पुप्फभिक्खु द्वारा सूत्रागम प्रकाशन समिति 'अनेकान्त विहार' गुड़गाँव से प्रकाशित है। यह सन् १९७१ में प्रकाशित हुआ है।

१५. अंगपविट्ठसुत्ताणि—आगम अंग ग्रन्थों का संकलन रतनलाल डोसी और पारसमल चण्डालिया द्वारा अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैनसंस्कृति रक्षक संघ, सेलाना द्वारा प्रकाशित है। सन् १९८२ में प्रकाशित इसमें केवल मूलपाठ ही है।

१६. उवासगदसाओ—मधुकर मुनि द्वारा सम्पादित यह संस्करण श्री जैन आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर द्वारा विक्रम संवत् २०३७ में प्रकाशित है, जिसमें मूलपाठ, अनुवाद, विवेचन और टिप्पण के साथ-साथ परिशिष्ट भी जोड़ा गया है। डॉ० छगनलाल शास्त्री द्वारा लिखित इसकी प्रस्तावना उपयोगी है।

उपासकदशांग का व्याख्या साहित्य

आगम साहित्य के गूढ़-गंभीर, दार्शनिक, तात्त्विक व आध्यात्मिक रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न व्याख्या साहित्य का निर्माण किया गया। इस व्याख्या साहित्य को हम निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका व श्लोक भाषा में लिखित टब्बा साहित्य इन पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं :[1]—

---

१. शास्त्री, देवेन्द्र मुनि-जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, पृष्ठ ४३५

१. जैन आगम साहित्य पर प्राकृत भाषा में पद्यबद्ध टीकाएँ लिखी गई, जो निर्युक्ति के नाम से विश्रुत हैं।
२. निर्युक्ति के गंभीर रहस्यों को प्रकट करने के लिए विस्तार से प्राकृत भाषा में जो पद्यात्मक व्याख्याएँ लिखी गयी, वे भाष्य कहलाती हैं।
३. शुद्ध प्राकृत में एवं संस्कृत मिश्रित प्राकृत में गद्यात्मक व्याख्याएं चूर्णि कहलाती हैं।
४. सम्पूर्ण संस्कृत में रची गयी आगमों का दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण करने वाली टीकाएं कहलाती है।
५. जन साधारण के लिए संस्कृत, प्राकृत को समझने में कठिनाई होने से लोक भाषाओं में सरल सुबोध शैली में टब्बे लिखे गये।[1]

उपासकदशांग सूत्र पर मुख्य रूप से टीकाएं ही लिखी गयी, निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य उपलब्ध नहीं होते हैं। टीकाओं को ही आचार्यों ने विभिन्न नामों से अंकित किया है जैसे :—टीका, वृत्ति, विवृति, विवरण, विवेचन, व्याख्या, वार्तिक, दीपिका, अवचूरि, अवचूर्णि, पंजिका, टिप्पण, टिप्पणक, पर्याय, स्तवक, पीठिका, अक्षरार्थ आदि।[2] ये टीकाएँ संक्षेप व विस्तार दोनों तरह की हैं।

उपासकदशांग का टीका साहित्य—

उपासकदशांग कीं निम्नलिखित टीकाएँ (वृत्ति) प्राप्ति होती हैं :—

१. आचार्य अभयदेव ने उपासकदशासूत्र पर टीका लिखी जो सम्पूर्णतया संस्कृत में लिखी गयी है। यह रायधनपतसिंह बहादुर, आजीमगंज से प्रकाशित है। इसका समय विक्रम संवत् १९३३ है। ग्रन्थ प्रमाण पृष्ठ २३३ है।[3]
२. आचार्य हर्षवल्लभ उपाध्याय ने उपासकदशांग पर टीका संवत् १६९३ में लिखी।[4]

---

१. वही, पृष्ठ ५५२
२. वही, पृष्ठ ५०८
३. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि—जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, पृष्ठ ५२२
४. वही, पृष्ठ ५४१

३. विवेकहंस ने उपासकदशांग पर वृत्ति लिखी, जिसके स्थान व समय के बारे में कोई संकेत नहीं है।[1]

४. उपासकदशांगसूत्र-स्तवक—इसका लेख संग्रह १८५६ है। इसमें पत्र संख्या ४९ है। इसका आकार २७×११.२ सेन्टीमीटर है व ग्रंथाग्र ९१२ है।[2]

५. उपासकदशांग सूत्र-स्तवक लेखसंग्रह १८ मूल शतक (अनुवाद) हाथ कागज पत्र ३८ है। इसका आकार २५.८×११ सेन्टीमीटर है ग्रन्थाग्र २५८६ है।[3]

---

१. वही, पृष्ठ ५४१
२. केटलोग आफ गुजराती मेन्युस्क्रीप्टस्-मुनिपुण्यविजय, प्रति संख्या ६९
३. वही, प्रति संख्या ७०

तृतीय अध्याय

उपासकदशांग की विषयवस्तु और विशेषताएँ

विषयवस्तु

जैन आगम साहित्य में आचारांग व उपासकदशांगसूत्र का अपना विशिष्ट महत्त्व है। जहा आचारांग में साधु जीवन के आचार-विचार और चर्या का वर्णन है वहीं उपासकदशांगसूत्र में श्रावकों की जीवनचर्याओं व आचारों का वर्णन प्राप्त होता हैं। इसमें भगवान महावीर के समकालीन आनन्द, कामदेव, चुलनीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुंडकौलिक, सकडालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता व सालिहीपिता—इन दस श्रावकों के जीवन चरित्रों का वर्णन है। उनकी संक्षिप्त विषयवस्तु यहाँ दी जा रही है :—

१. आनन्द श्रावक

ईशा पूर्व छठीं शताब्दी में वाणिज्यग्राम नामक नगर था। यह उत्तर बिहार के एक भाग में जहाँ लिच्छिवियों की राजधानी वैशालो है, उसी के पास स्थित था। वनिया ग्राम आज भी उस जगह पर है।[1] उसमें आनन्द नामक एक सम्पन्न व आदर्श गृहस्वामो निवास करता था।

आनन्द का ऐश्वर्य—गाथापति आनन्द वहुत सम्पन्न, प्रतिष्ठित और वैभवशाली था। जिसके पास भवन, रथ, गाड़ी, घोड़े, वाहनों की वहुलता हो, सोना-चाँदी, हीरे, जवाहरात आदि वहुमूल्य आभूषण हों, प्रतिदिन भोजन के वाद अनाथों व असहायों को भोजन आदि का दान करता हो उसे जैन सूत्रों में 'गाथापति' कहा गया है। आनन्द के पास ४ करोड़ स्वर्ण (उस समय की प्रचलित मुद्रा जिस एक मुद्रा का तौल वत्तोस रत्ती होता है) खजाने में, ४ करोड़ व्यापार में व ४ करोड़ आभूषणों में लगा हुआ था।

---

१. उवासगदसाओ—(सं०) मुनि मधुकर, पृष्ठ २

आनन्द के पास चार व्रज थे (१० हजार गायों के समूह को एक व्रज कहते हैं) उसके इन चारों व्रजों में गाय, भैंस, घोड़े आदि सभी पशुओं को सम्मिलित किया गया है।

सामाजिक जीवन—आनन्द का समाज में अग्रगण्य व्यक्तियों में स्थान था। सभी वर्ग के लोगों द्वारा उसे सम्मान मिलता था। वह अत्यन्त बुद्धिमान, मिलनसार व परामर्श लेने योग्य होने से नगर के राजा, मंत्री, सार्थवाह आदि व्यक्ति भी विविध कार्यों में, मंत्रणाओं में, कौटुम्बिक व्यवधानों में, दोष लगने पर अनेक गुप्त रहस्यों व भेदों में उसकी सलाह लिया करते थे, स्वयं अपने परिवार के लिए वह केन्द्र-विन्दु था। उसी को आगे रखकर कौटुम्बिक अपना कार्य सम्पन्न करते थे। उपासकदशांग में कहा गया है—

"× × ×मेढी जावसव्वकज्जवड्ढावए या वि होत्था"[1]

पारिवारिक जीवन—आनन्द के शिवानन्दा नाम की सर्वांग सुन्दर एवं स्वस्थ पत्नी थी। पति-पत्नी शब्द, रूप, रस, गंध व स्पर्शादि पांचों ही भोगों को भोगते हुए अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे। आनन्द के पारिवारिक सम्बन्धी भी सुखी व ऐश्वर्य सम्पन्न थे। इनके लिए मूल ग्रन्थ में "अड्ढे जाव अपरिभूए"[2] वाक्य प्रयुक्त हुआ है।

महावीर का सौजन्य—आनन्द अपने परिवार व सम्बन्धियों के मध्य आराम से जीवन व्यतीत कर रहा था, तदनन्तर उसके मनोविचारों को अलग ही दिशा प्रदान करने वाली एक घटना घटित हुई। संयोगवश श्रमण भगवान महावीर ग्रामानुग्राम भ्रमण करते हुए वाणिज्य-ग्राम में पधारे और वहाँ गाँव के वाहर वगीचे में विराजे। इस समाचार के सुनते ही राजा जितशत्रु अपने श्रीमन्तों व सामन्तों के साथ भगवान के दर्शनार्थ आया, उसके साथ ही गाँव के अनेक संभ्रान्त, प्रतिष्ठित एवं आम नागरिक भी भगवान के दर्शनार्थ पहुँचे। सभी नागरिकों को जाते देख आनन्द के मन में विचार हुआ कि मुझे भी भगवान के दर्शनार्थ जाकर धर्मोपदेश सुनना चाहिए, जिससे पुण्य फल की प्राप्ति हो। ऐसा विचार कर आनन्द ने स्नान कर, उपासना योग्य वस्त्र पहनकर पैदल ही वाणिज्यग्राम के मध्य

---

१. उपासकदशांग-सूत्र (सं०) मुनि आत्माराम, पृष्ठ १० सूत्र ५
२. उपासकदशांग-सूत्र (सं०) मुनि आत्माराम, पृष्ठ १५ सूत्र ८

होता हुआ दुतिपलाश चैत्य में आया। महावीर को तीन वार प्रदक्षिणा कर विधिपूर्वक वन्दना एवं नमस्कार की।

महावीर की धर्मदेशना—भगवान महावीर ने उपस्थित जन समूह को उपदेश दिया और श्रमण धर्म एवं श्रावक धर्म की व्याख्या की।

आनन्द की मनोभावना—भगवान का उद्‌बोधन सुनकर आनन्द के मन में अत्यन्त हर्ष हुआ और जिन धर्म के प्रति गहरी श्रद्धा उत्पन्न हुई। वह भगवान के समक्ष उपस्थित हुआ और कहने लगा, हे भगवन्! आपने जो उपदेश दिया, वह सत्य है, और मैं उसे पूर्ण रूप से अंगीकार करना चाहता हूँ, परन्तु परिस्थितियों के कारण मैं उस पूर्ण त्याग में असमर्थ हूँ, अतः मैं आपके पास से गृहस्थ धर्म रूप बारह व्रतों को स्वीकार करना चाहता हूँ। भगवान ने कहा—हे देवानुप्रिय! जैसा सुखदायक हो वैसा ही करो।

आनन्द द्वारा व्रत ग्रहण—इस प्रकार आनन्द ने भगवान महावीर द्वारा स्थूल प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, स्वदार संतोष, इच्छा परिमाण, उपभोग परिभोग, अनर्थदण्ड विरमण, सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास व अतिथिसंविभाग आदि बारह व्रत ग्रहण किये, अपने ऐश्वर्यपूर्ण जीवन को मर्यादित बनाया तथा विस्तृत व्यापार, धन आदि की तृष्णा को नियन्त्रित किया।

सातवें उपभोग-परिभोग व्रत में आनन्द ने शरीर पोछने के अंगोछे, दन्त धावन, फल, मालिश में काम में आने वाले तेल, उबटन, स्नान के जल, पहनने के वस्त्र, लेप करने वाली वस्तु, पुष्प, आभूषण, भोजन, पकवान, चावल, दाल, घृत, शाक, माधुरक, व्यंजन, पानी, मुखवास-विधि का परिमाण किया और अन्य सभी वस्तुओं का परित्याग कर दिया।

इन व्रतों को ग्रहण करने के साथ-साथ आनन्द ने इनमें दोष लगने की क्या-क्या सम्भावनाएं हो सकती हैं, उनकी भी जानकारी प्राप्त की। प्रत्येक व्रत के भंग होने की चार सीढ़ियाँ होती हैं—अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार। इनमें से अतिचार का अर्थ व्रत का आंशिक भंग है। प्रत्येक व्रत के भगवान ने पाँच-पाँच अतिचारों का भी ज्ञान आनन्द को कराया।

इन्हीं के साथ श्रावक को नहीं करने योग्य पन्द्रह कर्मादानों अर्थात् 'निषिद्ध-व्यवसायों की भी जानकारी दी और आनन्द ने उन्हें नहीं करने की प्रतीज्ञा की। इन व्रतों को ग्रहण करने के बाद गाथापति आनन्द अब आनन्द श्रावक के रूप में प्रसिद्धि पाने लगा।

शिवानन्दा को प्रतिबोध—आनन्द ने श्रावक व्रत ग्रहण करने के पश्चात् श्रमण महावीर को तीन बार वन्दन कर अपने घर पहुँचा और अपनी पत्नी के बारे में सोचा—जैसा मैंने उत्तम मार्ग अपनाया है, क्या ही अच्छा हो कि मेरी पत्नी भी ऐसा ही करे। इस प्रकार विचार कर उसने अपनी पत्नी से कहा कि आज मैंने भगवान महावीर के दर्शन करके उनसे श्रावक-व्रत ग्रहण किये हैं। अतः तुम भी भगवान महावीर के पास जाकर उपदेश श्रवण करो तथा सम्भव हो तो गृही धर्म स्वीकार करो।

शिवानन्दा को आनन्द श्रावक का कथन उत्तम और रुचिकर लगा। वह भी भगवान के दर्शनार्थ पहुंची और धर्मदेशना सुनकर विरक्त हो, उसने भी यथाविधि श्राविका-धर्म स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार आनन्द व शिवानन्दा ने गृहस्थ धर्म के बारह व्रतों को ग्रहण किया इसके अनन्तर भगवान महावीर का वहाँ से विहार हो गया।

सामाजिक दायित्व से मुक्ति—इस प्रकार आनन्द व शिवानन्दा श्रावक-श्राविका के धर्म का परिपालन करते हुए अपना जीवन व्यतीत करने लगे। इस तरह चौदह वर्ष समाप्त हो गये। पन्द्रहवें वर्ष में एक दिन पूर्व रात्रि में धर्मध्यान करते हुए आनन्द श्रावक के मन में यह संकल्प हुआ कि मैं इस नगर के अनेक लोगों द्वारा सम्मानित हूँ तथा उनके सुख-दुःख में भी हिस्सा लेता हूँ, इस कारण मैं धार्मिक कार्य में पूरा समय नहीं दे पाता हूँ, अतः कल सभी पारिवारिक जनों, रिश्तेदारों व मित्रगणों को बुलाकर एक प्रीतिभोज दूँ, और कुटुम्ब का भार ज्येष्ठ पुत्र को सौंपकर पौषधशाला में धर्माराधना करूँ। इस संकल्प के साथ ही दूसरे दिन सभी मित्रजन व पारिवारिक सदस्यों को बुला कर आदर-सम्मान से भोजन कराकर कहा कि मैं आप सभी का आधारभूत होने के कारण धर्म का सम्यक् परिपालन नहीं कर पाता हूँ अतः मैं ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंपकर धर्माचरण करना चाहता हूँ। सबकी सहमति के बाद ज्येष्ठ पुत्र को भार सौंपकर

आनन्द ने कहा कि मुझे अब कोई किसी भी कार्य के बारे में नहीं पूछे, नहीं परामर्श करे और नहीं मेरे लिए अशन, पान तैयार करे। इस प्रकार निर्देश देकर आनन्द श्रावक निरारम्भ भोजन पर रहने लगा।

आनन्द श्रावक द्वारा प्रतिमा ग्रहण—

कोल्लाक-सन्निवेश में स्थित पौषधशाला में धर्माराधना करते हुए आनन्द क्रमशः दर्शन प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, सामायिक प्रतिमा, पौषध प्रतिमा, कायोत्सर्ग प्रतिमा, ब्रह्मचर्य प्रतिमा, सचित्ताहारवर्जनप्रतिमा, स्वयं आरम्भ-वर्जनप्रतिमा, भृतकप्रेष्यारंभवर्जनप्रतिमा, उदिष्टभक्तवर्जनप्रतिमा, श्रमणभूतप्रतिमा की आराधना करने लगा। इस प्रकार दीर्घकाल तक तपश्चरण व साधना से उसका शरीर कृश हो गया एवं उसकी नसें दिखाई पड़ने लगीं।

कठोर तपाराधना—इस प्रकार कठोर तप करते हुए एक दिन आनन्द श्रावक ने सोचा कि मुझे इससे भी कठोर आराधना करनी चाहिए, इसलिए उसने विचार किया कि मैं अभी भगवान महावीर के पास जाकर मारणान्तिक संल्लेखणा स्वीकार कर लूँ, भोजन पानी का पूर्ण त्याग कर शान्त-चित्त से मृत्यु का वरण करूँ। संयोग ही था कि भगवान उस समय वहीं पर विचरण कर रहे थे, इसलिए उसने सवेरे ही भगवान के पास जाकर आमरण अनशन स्वीकार कर लिया। जीवन-मरण, यशकीर्ति, ऐहिक भोग तथा सुख आदि इच्छाओं से निवृत होकर अपना समय व्यतीत करने लगा।

अवधिज्ञान व गौतम की शंका—कुछ समय व्यतीत होने पर एक दिन शुभ ध्यान में लीन व धर्म के गम्भीर चिन्तन से अवधिज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम होने से आनन्द श्रावक को अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया। ग्रामानुग्राम विचरते हुए श्रमण महावीर वापस वाणिज्यग्राम में पधारे। उनके प्रमुख शिष्य गौतम बेले-बेले तपस्या कर रहे थे। एक दिन वह बेले के पारणे की भिक्षा लेने नगर में पधारे और आनन्द श्रावक के अनशन के बारे में सुनने पर पौषधशाला में दर्शन देने पहुँचे। आनन्द श्रावक कमजोरी के कारण समर्थ नहीं होने से गौतम को समीप बुलाकर वन्दना की और पूछा—भगवन्! क्या गृहस्थ को अवधिज्ञान हो सकता है, गौतम के 'हाँ' कहने पर आनन्द श्रावक ने कहा—तो मुझे भी वह ज्ञान हो गया है और

में भी पूर्व की ओर लवणसमुद्र में पांच सौ योजन व अधोलोक में नरक (लोलुपाच्युत) तक देखने लगा हूँ।

यह सुनते ही गौतम बोले—आनन्द ! गृहस्थ को अवधिज्ञान तो हो सकता है, परन्तु इतना विशाल नहीं जैसा तुम बता रहे हो, इसलिए मिथ्या भाषण के लिए तुम्हें प्रायश्चित्त करना चाहिए। आनन्द श्रावक कहने लगा—भगवन् ! क्या जिन प्रवचन में सत्य, तथ्य और सारभूत बातों के लिए भी आलोचना की जाती है ? गौतम ने कहा—ऐसा नहीं होता। तब आनन्द श्रावक बोला—यदि जिन प्रवचन में सत्य की आलोचना नहीं होती है, तो आप स्वयं आलोचना कीजिये, क्योंकि आप सत्य को नकार रहे हैं।

अनोखी क्षमा-याचना—गौतम यह सुनकर विचार में पड़ गये और मन में अनेक शंकाएं लेकर महावीर स्वामी के पास पहुँचे। वन्दना कर आहार-पानी दिखाकर पूर्वोक्त सभी घटनाएं उन्हें बताई एवं कहा—अन्त में शंकाशील होकर मैं आपके पास आया हूँ। इस पर भगवान बोले—गौतम ! तुम ही असत्य रूप पाप के भागी हो, अतः तुम ही आलोचना करो और आनन्द श्रावक से इस सम्बन्ध में क्षमा-याचना करो।

गौतम ने इसे विनयपूर्वक स्वीकार किया और प्रायश्चित्त रूप में आनन्द श्रावक से क्षमा-याचना की, यह उनके उदात्त-चरित्र को प्रकट करती है।

आनन्द के जीवन का उपसंहार—इस प्रकार आनन्द श्रावक सभी व्रतों, प्रतिमाओं को पालन करता हुआ एक मास की सल्लेखना कर समाधि-मरण को प्राप्त हुआ। मरकर वह सौधर्म देवलोक के सौधर्मावतंसक महाविमान के ईशाणकोण में स्थित अरुण विमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ, जहाँ उसकी आयु चार पल्योपम बताई गयी है।

२. कामदेव श्रावक

भगवान महावीर के समय में चम्पा नाम की नगरी थी। वहाँ कामदेव नामक गाथापति निवास करता था। उसकी पत्नी का नाम भद्रा था।

ऐश्वर्य—कामदेव के पास आनन्द श्रावक से भी अधिक सम्पत्ति थी। उसके पास छः करोड़ हिरण्य कोष में, छः करोड़ व्यापार में व छः करोड़ घर के वैभव में लगे हुए थे। कामदेव के पास छः व्रज थे। प्रत्येक व्रज में दस हजार गायें थीं। इस प्रकार कामदेव के पास लौकिक साधनों का प्रचुर भण्डार था।

धर्माराधना की ओर—आनन्द की तरह ही कामदेव के जीवन में भी नया मोड़ तब आया जब श्रमण भगवान महावीर विचरण करते हुए चम्पानगरी पधारे। आनन्द की तरह कामदेव भी भगवान महावीर के दर्शनार्थ गया, वहाँ उसने भी धर्मोपदेश सुना और उनके धर्मोपदेश से प्रभावित होकर उसने गृहस्थ धर्मरूप बारह व्रत ग्रहण किये।

कठोर तपाराधना—किसी समय कामदेव ने भी सोचा कि मुझे अब पूर्ण रूप से धर्माराधना करनी चाहिए, इसलिए सब दायित्व अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौंपकर वह पौषधशाला में जाकर अपना समय धर्माराधना में व्यतीत करने लगा।

उपसर्ग—धर्माराधना करते हुए एक दिन कामदेव के जीवन में एक उपसर्ग आया। पौषधशाला में मध्यरात्रि में एक मायावी और मिथ्यादृष्टि देव उपस्थित हुआ। उसने कामदेव को, डराया, धमकाया व विभिन्न प्रकार के उपसर्ग उपस्थित किये। उसने एक अत्यन्त विशालकाय विकराल पिशाच का रूप बनाया, जिसका प्रत्येक अंग बड़ा ही भयावह था। उसने तीक्ष्ण खड्ग हाथ में ले रखा था और भयानक शब्द करता हुआ कामदेव के पास आया और कहने लगा—अरे कामदेव! तू मौत की इच्छा कर रहा है, और यहाँ पौषधशाला में बैठा है, किन्तु आज यदि तू प्रौषधोपवास को नहीं छोड़ेगा, तो इस तलवार के द्वारा तेरे टुकड़े-टुकड़े कर दूँगा और तू अकाल मौत मर जायगा। इस प्रकार एक, दो, तीन बार कहने पर भी कामदेव के मन में किंचित् मात्र भी घबराहट या दुर्भावना नहीं आयी, वह अपने आत्मचिन्तन में स्थिर रूप से लगा रहा। तब अत्यन्त क्रुद्ध होकर पिशाच ने सचमुच ही उस तीक्ष्ण खड्ग से कामदेव के शरीर पर प्रहार किये। ऐसी अति दारुण वेदना पाकर भी कामदेव अविचल व शान्त चित्त रहा।

हाथी का उपसर्ग

खिन्न व हताश होकर मिथ्यादृष्टिदेव ने प्रौषधशाला के बाहर आकर कामदेव को और अधिक कष्ट देने की सोची। अब उसने अपने वैक्रिय शरीर से हाथी का रूप ग्रहण किया। वह हाथी अत्यन्त विशाल, उन्मत्त व डरावना था। भयानक आवाज करता हुआ वह हाथी कामदेव श्रावक के पास आया और बोला अरे कामदेव! अगर अब भी तू अपने व्रतों को खण्डित नहीं करेगा। तो मैं तुझे सूँड़ में पकड़ कर प्रौषधशाला के बाहर ले जाऊँगा और तुझे आकाश में उछाल कर इन तीक्ष्ण दाँतों पर झेलूंगा। जमीन पर पटक कर पैरों से रौंदूंगा जिससे तू अकाल में ही काल के गाल में चला जायेगा। यह कह कर उसने कामदेव को जैसा कहा वैसा ही कर दिखाया। कामदेव इस पर भी शान्तिपूर्वक धर्माराधना में लगा रहा और असह्य वेदना को समभाव से सहन करता रहा।

सर्प का उपसर्ग—दो भयंकर उपसर्गों से भी विचलित नहीं होने से देव को अत्यन्त क्रोध आया। वह प्रौषधशाला के बाहर आया और कामदेव को और अधिक कष्ट देने के उद्देश्य से उसने विकराल सर्प का रूप धारण किया। यह सर्प उग्र विष, चंड विष व घोर विष वाला तथा अत्यन्त काला व भयंकर क्रोध से भरा हुआ था। कामदेव के पास पहुंच कर वह बोला—अरे कामदेव श्रावक! यदि तूने अब भी इन व्रतों को नहीं छोड़ा तो मैं अभी तेरे शरीर पर चढ़ूंगा और तुझे जगह-जगह डसूँगा, जिससे तू दुःखी होकर मर जायगा। ऐसा कहकर उसने अपने कथन को वास्तविक रूप में कर दिखाया। किन्तु कामदेव श्रावक किंचित्मात्र भी विचलित नहीं हुआ।

देव द्वारा प्रशंसा व क्षमायाचना—परीक्षा की विभिन्न कसौटियों से गुजरने के बाद भी विचलित नहीं होने पर देव ने सोचा यह वास्तव में शूरवीर और दृढ़प्रतिज्ञ वाला है। इस प्रकार सोचकर देव अपने वास्तविक रूप में आकर कामदेव से कहने लगा कि हे कामदेव श्रावक! तुम धन्य हो, तुम्हारी निर्ग्रन्थ धर्म के प्रति श्रद्धा दृढ़ है, देवराज शक्र की बात पर विश्वास नहीं करके मैंने आपकी परीक्षा की, अतः आप मुझे क्षमा करें। इस प्रकार कहकर देव जिधर से आया उधर ही वापस लौट गया।

इस तरह उपसर्ग को समाप्त समझकर कामदेव श्रावक ने अभिग्रह का पारणा किया।

भगवान के दर्शन—उस समय शुभ संयोग से भगवान महावीर चम्पानगरी के बाहर उद्यान में ठहरे हुए थे। कामदेव श्रावक के हृदय में भगवान के दर्शन करने की इच्छा हुई और वह भी प्रोषधशाला से निकलकर पूर्णभद्र चैत्य में पहुँचा, वहाँ भगवान के दर्शन किये तथा उपदेश श्रवण कर वह तुष्ट हुआ।

महावीर द्वारा कामदेव की प्रशंसा—उपदेश के वाद श्रमण भगवान महावीर ने कामदेव श्रमणोपासक से पूछा—हे कामदेव! मध्य रात्रि में एक देव द्वारा तुम्हें पिशाच, हाथी व सर्प द्वारा शिलादि व्रतों को छोड़ने के लिए उपसर्ग दिये थे और तुम्हारे द्वारा विचलित नहीं होने पर वह वापस लौट गया, क्या यह सही है? कामदेव ने इसे विनय पूर्वक स्वीकार किया। महावीर ने समस्त साधु-साध्वियों को कहा—एक श्रमणोपासक होते हुए कामदेव धर्माराधना करने में इतनी दृढ़ता रख सकता है, अतः आपको भी ऐसी दृढ़ता रखनी चाहिए। तत्पश्चात् कामदेव भगवान को वन्दन-नमस्कार करके वापस लौट आया।

प्रतिमा ग्रहण व देवलोक गमन—अव कामदेव श्रावक में आत्म-कल्याण की भावना तीव्र से तीव्रतर होने लगी। उसने श्रावक प्रतिमा व्रत स्वीकार कर लिया। २० वर्ष तक श्रावक-पर्याय पालते हुए एवं ग्यारह उपासक प्रतिमाओं को ग्रहण करते हुए उसने मासिक सल्लेखना धारण कर समाधिपूर्वक मृत्यु का वरण किया। अरुणाभ विमान में देव रूप में उत्पन्न हुआ, जहाँ उसकी आयु चार पल्योपम की वताई गयी है।

३. चुलनीपिता

महावीर के काल में वाराणसी नाम की नगरी थी। वहाँ कोष्ठक नामक चैत्य था। उस वाराणसी में चुलनीपिता नामका गाथापति निवास करता था। उसकी पत्नी का नाम श्यामा था। उसके पास अपार धन-सम्पत्ति थी। आठ करोड़ कोष में, आठ करोड़ व्यापार में और आठ करोड़ मुद्राएँ घर के वैभव में लगी हुई थीं। अर्थात् उसकी सम्पत्ति आनन्द व कामदेव की अपेक्षा भी अधिक थी। उसके पास दस हजार गायों के प्रत्येक गोकुल

के हिसाब से आठ गोकुल थे। इस प्रकार चुलनीपिता अत्यन्त समृद्ध व वैभवशाली था।

महावीर का आगमन व निवृत्ति—एक बार भगवान महावीर का वाराणसी में पधारना हुआ तो चुलनीपिता ने भी धर्मोपदेश सुना और विरक्त होकर उसने भी श्रावक-धर्म स्वीकार कर लिया। वह प्रौषधशाला में प्रौषध को स्वीकार करके धर्माराधना करने लगा।

उपसर्ग एव निवारण—साधना के दौरान मध्य रात्रि को जब चुलनीपिता धर्माराधना में लीन था, तब एक देव प्रकट हुआ और पीड़ा पहुँचाने के उददेश्य से उसने कहा कि अरे चुलनीपिता! यदि तूने व्रत भंग नहीं किया तो तेरे बड़े लड़के को लाकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर दूंगा, उसे तेल की कड़ाही में पकाउंगा व उसके खून से तुम्हें छींटे दूंगा। जिससे तुम दुःखी होकर मर जाओगे। दो-तीन बार इसी प्रकार कहने पर भी जब चुलनीपिता ध्यानस्थ रहा तब देव ने जैसा कहा वैसा किया, परन्तु चुलनीपिता ने उसे शांत भाव से सहन किया। इस पर क्रुद्ध होकर देव ने उसके दूसरे व तीसरे पुत्र को भी इसी प्रकार मार डाला, तब भी चुलनीपिता शान्त चित्त रहा।

माता के वध की धमकी—तीनों पुत्रों की हत्या के बाद देव ने कहा कि अरे चुलनीपिता! यदि अब तू अपने व्रत को नहीं छोड़ेगा तो तेरी माता भद्रा सार्थवाही को यहाँ लाकर तेज तलवार से टुकड़े-टुकड़े कर दूँगा और उनका खून भी तेरे शरीर पर छितराऊंगा।

व्रत की स्खलना—माँ, जो पूज्य व वन्दनीय होती है उसके सम्बन्ध में ऐसा सुनकर चुलनीपिता ने सोचा कि देवता समान मेरी माँ को यह मारना चाहता है अतः मैं इसे पकड़ लूँ। यह सोचकर वह उठा और देव को पकड़ने का प्रयत्न किया तो उसके हाथ में खंभा आ गया और वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा। चुलनीपिता द्वारा चिल्लाने की आवाज सुनकर उसकी माता ने आकर पूछा कि तुम इस तरह से क्यों चिल्ला रहे हो?

व्रतों में पुनः स्थिर होना—चुलनीपिता द्वारा पूर्व का वृत्तान्त कहने पर भद्रा माता ने समझाया कि तुम्हारे पुत्रों को कोई नहीं लाया है और

नहीं किसी ने मारा है और मुझे भी कुछ नहीं हुआ है। तुमने यह सब देव माया देखी है। इस तरह चिल्लाने से तुम्हारे व्रतों में क्षीणता आई है, अतः अब तुम इसका प्रायश्चित्त करो। यह सुनकर चुलनीपिता को बहुत दुःख हुआ, उसने प्रायश्चित्त किया और पुनः व्रतों में स्थिर हो गया।

प्रतिमाग्रहण—अब चुलनीपिता ने श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाएँ ग्रहण कर ली और वह आत्मानुशासन में लीन होता गया। कठोर तपश्चरण और बीस वर्ष तक श्रावक-धर्म का पालन करता हुआ एक मास की सल्लेखना कर उसने अपनी आयु पूर्ण की और अरुणाभ विमान में देव रूप में उत्पन्न हुआ।

४. सुरादेव

वाराणसी नगरी में सुरादेव नामका गाथापति रहता था। सुरादेव समृद्धि और वैभव से परिपूर्ण था। उसके पास छः करोड़ स्वर्ण खजाने में, छः करोड़ स्वर्ण व्यापार में एवं छः करोड़ स्वर्ण घर के वैभव में लगे थे। वह दस-दस हजार गायों वाले छः गोकुलों का स्वामी था।

व्रतों को स्वीकारना—एक बार भगवान महावीर वाराणसी पधारे। सुरादेव ने भगवान का उपदेश श्रवण किया तथा उपदेशों से प्रभावित होकर श्रावक व्रत ग्रहण किये। क्रमशः सुरादेव की धर्माराधना बढ़ती गई।

उपसर्ग व सुरादेव का पतन—एक रात्रि को सुरादेव जब प्रोषधव्रत की उपासना में लीन था, वहाँ एक देव प्रकट हुआ। उसके हाथ में तीक्ष्ण तलवार थी, उसने उसे बहुत डराया-धमकाया और उसके तीनों पुत्रों को चुलनीपिता के पुत्रों की तरह मारा-काटा एवं कड़ाही में उबाला, फिर भी सुरादेव उपासना में ही संलग्न रहा।

तब देव ने कहा, सुरादेव! यदि तुम धर्माराधना नहीं छोड़ोगे, तो मैं तुम्हारे शरीर में सोलह रोग उत्पन्न कर दूंगा जिससे तुम खाँसी, कोढ़ आदि से ग्रसित होकर मर जाओगे। ये वचन सुनकर सुरादेव ने उसे पकड़ लेने की सोची और वह इसके लिये उठा तो देव तत्काल आकाश में उड़ गया एवं उसके हाथ में खम्भा आ गया, जिसे पकड़कर वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा!

पत्नी की प्रेरणा—इस कोलाहल को सुनकर धन्या नाम की उसकी पत्नी वहाँ आई और पूछा—आप इस तरह से क्यों चिल्ला रहे हैं ? सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनने पर धन्या ने कहा कि आपके सभी पुत्र सकुशल हैं। यह तो देवताजन्य उपसर्ग था जिससे भयभीत होकर आपने अपना व्रत खण्डित कर लिया, इसलिए अब आपको प्रायश्चित्त करके दोषमुक्त होना चाहिए। यह सुनकर सुरादेव ने प्रायश्चित्त किया और पुनः धर्माराधना में संलग्न हो गया।

देवलोकगमन—सुरादेव ने बीस वर्ष तक धर्माराधना करते हुए श्रावक धर्म का पालन किया। ग्यारह प्रतिमाओं को ग्रहण किया व एक मास की सल्लेखना ग्रहण कर समाधिपूर्वक देह त्याग किया तथा सौधर्म देवलोक में अरुणाभ विमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ।

५. चुल्लशतक

महावीर के समय उत्तरभारत में आलभिका नाम की नगरी थी, नगरी के पास शंखवन नामक उद्यान था। उस नगरी में चुल्लशतक नाम का एक गाथापति रहता था। उसके पास भी छः करोड़ स्वर्ण खजाने में, छः करोड़ व्यापार में और छः करोड़ घर के वैभव में लगे हुये थे। उसके पास दस-दस हजार गायों वाले छः गोकुल थे। इस प्रकार चुल्लशतक भी समृद्धि से युक्त था। ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए एक बार भगवान महावीर आलभिका नगरी पधारे। चुल्लशतक दर्शनार्थ गया और उपदेशों से प्रभावित होकर श्रावक-धर्म को अंगीकार किया।

उपसर्ग—एक रात्रि साधनाकाल के अनन्तर एक देव तलवार लेकर प्रोषधशाला में आया और कहने लगा, हे श्रमणोपासक ! यदि तू शिलादि व्रतों को नहीं छोड़ेगा तो तेरे पुत्रों के टुकड़े-टुकड़े कर दूंगा एवं रुधिर से तेरे ऊपर छिड़काव करूँगा। इस पर चुल्लशतक शान्त रहा। तब देव ने चौथी बार कहा—हे चुल्लशतक ! यदि अब भी तूने व्रतों को नहीं छोड़ा तो तुम्हारी सब धन-सम्पत्ति को आलभिका की सड़कों व चौराहों पर बिखेर दूंगा जिससे तू दरिद्र हो जायगा और उससे दुःखी होकर मर जायेगा।

व्रतों से पतन व पुनःस्थापन—दो-चार बार इस प्रकार कहने पर चुल्लशतक ने सोचा कि धन है तो सब कुछ है, धन के बिना कुछ भी नहीं

है, अतः इसे ऐसा करने से पहले ही रोक लेना चाहिये। ऐसा सोचकर उसे पकड़ने के लिए ज्योंहि उसने हाथ बढ़ाया तो उसके हाथ में खंभा आ गया और वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा। यह सुनकर उसकी पत्नी बहुला वहां पर आई और सारी बात सुनकर उसने कहा कि यह तो देव उपसर्ग था, जिससे आप विचलित हो गये, अतः आप प्रायश्चित्त कर आत्म-शोधन करें। चुल्लशतक ने वैसा ही किया।

देवलोकगमन—व्रताराधना करते हुए चुल्लशतक २० वर्ष पर्यन्त श्रावक-धर्म का पालन करता रहा। ग्यारह प्रतिमाओं को धारण किया। एक मास की सल्लेखना की और देहत्याग कर अरुणसिद्ध विमान में देव रूप में उत्पन्न हुआ।

६. कुण्डकौलिक

महावीर के समय काम्पिल्यपुर नगर था। यह काम्पिल्यपुर वर्तमान में उत्तरप्रदेश में बूढी गंगा के किनारे बदायूँ व फर्रुखाबाद के बीच स्थित कम्पिल नामक गाँव के रूप में है। उसके बाहर सहस्राम्र वन था।

उस नगर में कुण्डकौलिक नामक प्रसिद्ध गाथापति रहता था। उसकी पत्नी का नाम पूषा था। कुण्डकौलिक के पास छः करोड़ स्वर्ण कोष में, छः करोड़ व्यापार में, छः करोड़ घर के वैभव में लगा हुआ था, प्रत्येक दस हजार गायों से युक्त छः गोकुल उसके पास अलग से थे। एक समय भगवान महावीर काम्पिल्यपुर नगरी के बाहर चैत्य में पधारे। कुण्ड-कौलिक भी भगवान के दर्शनार्थ आया व प्रतिबोधित होकर श्रावकधर्म ग्रहण किया।

धर्माराधना—एक दिन कुण्डकौलिक अशोक वाटिका में गया, वहां अपने वस्त्राभूषण उतार कर पृथ्वीशिला-पट्ट पर रखे एवं स्वयं धर्मप्रज्ञप्ति की आराधना करने लगा।

देव द्वारा परीक्षा—कुछ समय बाद वहाँ एक देव प्रकट हुआ, उसने वह वस्त्राभूषण उठा लिये एवं आकाश मार्ग में स्थित होकर कहने लगा कि गोशालक के सिद्धान्त बहुत सुन्दर है। जो कुछ होना है वह निश्चित है तथा भगवान महावीर के सिद्धान्त निरर्थक हैं, गोशालक के अनुसार पुरुषार्थ व्यर्थ है और यही विचार उत्तम है।

नियतिवाद का खण्डन—तब कुण्डकौलिक बोला, देव! एक बात बताओ—तुमने जो यह रूप, वैभव, कान्ति व लब्धियां पायी हैं, क्या इसे प्रयत्न व पुरुषार्थ के बिना प्राप्त कर लिया है? तब देव ने कहा—मुझे यह सब बिना प्रयत्न मिला है। तब कुण्डकौलिक ने उत्तर दिया—तो जो प्राणी पुरुषार्थ नहीं करते, वे देव क्यों नहीं हुए और यदि प्रयत्न व पुरुषार्थ से मिला है तो महावीर के सिद्धान्त, जिसमें पुरुषार्थ व प्रयत्न का विशेष महत्त्व है, उन्हें मिथ्या कैसे कह सकते हो?

देव की पराजय—इस पर देव निरुत्तर होकर वस्त्राभूषण वहीं रख-कर वापस लौट गया। कुछ समय बाद भगवान महावीर काम्पिल्यपुर पधारे। कुण्डकौलिक भी धर्मोपदेशना सुनने गया।

महावीर द्वारा प्रशंसा—महावीर ने कुण्डकौलिक से उस देव घटना के बारे में पूछा कि क्या यह सच है? तो कुण्डकौलिक ने इसे विनयपूर्वक स्वीकार किया।

वहाँ उपस्थित साधु-साध्वियों को प्रेरणा देने हेतु महावीर ने कुण्ड-कौलिक की प्रशंसा की और कहा कि गृहस्थावस्था में रहते हुए भी कुण्ड-कौलिक इतना तत्त्ववेत्ता है, अतः आप भी इससे प्रेरणा लें।

उग्रसाधना—धीरे-धीरे कुण्डकौलिक की साधना के प्रति रुचि बढ़ती गयी और वह उग्र से उग्र साधना करने लगा। पन्द्रहवें वर्ष में अपने ज्येष्ठ पुत्र को गृहभार सौंपकर वह सर्व रूप से साधना करने में लग गया। उसने ग्यारह प्रतिमाओं को स्वीकार किया। एक मास का सल्लेखना कर समाधि-पूर्वक देह त्याग किया और अरुणध्वज विमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ।

७. सकडालपुत्र

महावीर के काल में पोलासपुर नामक नगर था। वहाँ नगर के बाहर सहस्राम्र नामक उद्यान था। इसी नगर में आजीवक मत का अनुयायी सकडालपुत्र नामक कुम्भकार रहता था। सकडालपुत्र के पास एक करोड़ सुवर्ण घर के कोष में, एक करोड़ व्यापार में व एक करोड़ घर के वैभव में लगा हुआ था। दस हजार गायों का एक गोकुल था। सकडालपुत्र की पत्नी का नाम अग्निमित्रा था।

व्यवसाय—सकडालपुत्र के पोलासपुर नगर के बाहर पाँच सौ आपण थे। उसका मुख्य व्यवसाय मिट्टी के बर्तन बनाकर बेचना था। उसके पास

अनेक वैतनिक कर्मचारी कार्य करते थे जो वर्तन को नगर के चौराहों एवं गलियों में वेचते थे।

धर्माराधना व देव द्वारा सम्बोधन—एक दिन सकडालपुत्र अशोक वाटिका में जाकर अपनी मान्यतानुसार धर्माराधना कर रहा था, वहाँ एक देव प्रकट हुआ और कहने लगा, हे सकडालपुत्र! कल यहाँ महामाहन, अप्रतिहत ज्ञान-दर्शन के धारक, जिन केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, त्रिलोक पूजित मुनि पधारेंगे। तुम उनकी पर्युपासना करना व स्थान, पाट आदि के लिए आमन्त्रित करना।

सकडालपुत्र ने सोचा—मेरे धर्माचार्य मंखलिपुत्र गोशालक कल यहाँ आयेंगे। वे केवली हैं, अतः मैं निश्चय ही उनकी पर्युपासना करूँगा। दूसरे दिन भगवान महावीर सहस्राम्र उद्यान में पधारे। सकडालपुत्र भी दर्शनार्थ गया।

महावीर ने सवको धर्मोपदेश दिया और सकडालपुत्र को सुलभवोधि जानकर प्रेरणा देने के उद्देश्य से कहा—कि कल जिस देव ने तुम्हें जिसके आगमन की सूचना दी, उसका अभिप्राय मुझसे था।

इस परोक्ष ज्ञान से सकडालपुत्र अत्यन्त प्रभावित हुआ और महावीर को वर्तन, पात्र आदि के लिए आमन्त्रित किया, जिसे भगवान ने स्वीकार किया।

नियति व पुरुषार्थ—भगवान महावीर जानते थे कि सकडालपुत्र की आस्था अभी भी गोशालक में है, इसलिये एक दिन सद्वोध देने के उद्देश्य से भगवान उसकी दुकान से वाहर सूख रहे वर्तनों को देखकर पूछा—ये बर्तन कैसे वने ? सकडालपुत्र वोला—भगवन्! पहले मिट्टी लाई गयी, पानी में भिगोया गया, चाक पर चढ़ाकर इन्हें वनाया गया। भगवान बोले—ये प्रयत्न और पुरुषार्थ से वने हैं या नहीं ? सकडालपुत्र वोला—भगवन्! ये वर्तन अप्रयत्न व अपुरुषार्थ से वने हैं, क्योंकि जो कुछ होता है वह निश्चित है। महावीर ने कहा—मान लो कोई तुम्हारे वर्तन चुरा ले, तोड़ दे, तुम्हारी स्त्री के साथ वलात्कार करे तव तुम क्या करोगे ? सकडालपुत्र वोला—मैं उसे मारूँगा, पीटूँगा और यहाँ तक कि मैं उसे कत्ल भी कर दूँगा। महावीर ने कहा—क्यों ? यह तो सब नियत था इसलिए यह तो होना ही

था और तुम तो उसी को मानते हो। किन्तु यदि तुम कहो कि प्रयत्नपूर्वक उद्यम से ऐसा होता है तो तुम्हारा नियतिवाद मिथ्या है, गलत है।

भद्र प्रकृति का सकडालपुत्र वास्तविकता को समझ कर पुरुषार्थ में विश्वास करने लगा। उसने भगवान से गृहस्थ धर्म को स्वीकार कर लिया, साथ ही अपनी पत्नी अग्निमित्रा को भी श्राविका-धर्म ग्रहण करने की प्रेरणा दी।

गोशालक का आगमन व उपेक्षा—गोशालक ने जब यह सुना तो वह पोलासपुर आकर सकडालपुत्र से मिला। सकडालपुत्र से आदरसत्कार नहीं पाकर उसने एक युक्ति निकाली। उसने महावीर की गुणस्तुति चालू कर दी, जिसे सकडालपुत्र नहीं समझ सका और शिष्टतावश अनुरोध किया कि आप मेरे से आवश्यक वस्तुएं ग्रहण करें। समय-समय पर गोशालक ने उसे बदलने के अनेक प्रयास किये पर हर बार सकडालपुत्र ने विवेकयुक्त होकर उसे निरुत्तर कर दिया। हताश हो, गोशालक वहां से विहार कर गया।

उपसर्ग—इस तरह धर्माराधना करते हुए पन्द्रहवें वर्ष की एक रात्रि में उपसर्ग देने की नियत से सकडालपुत्र को एक देव ने आकर कहा—तू व्रत छोड़ दे, नहीं तो तेरे तीनों पुत्रों को मार दूंगा। इस धमकी पर विचलित नहीं होता देख उसने उन्हें मार-मार कर उनके रुधिर के छींटे सकडालपुत्र के शरीर पर दिये। फिर भी सकडालपुत्र शान्त रहा। अब देव ने उसकी पत्नी अग्निमित्रा को मार डालने की धमकी दी। तब सकडालपुत्र ने इसे पकड़ लेने की सोची, देव माया में कौन किसे पकड़ता? खम्भा हाथ में पकड़ कर वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा, तब अग्निमित्रा ने आकर उसे पुनः धर्म में स्थिर किया। अंतिम समय के एक मास की सल्लेखना से समाधिमरण प्राप्त किया और अरुणभूत विमान में देव रूप में उत्पन्न हुआ।

८. महाशतक

महावीर के समय में राजगृह नामक नगर था। राजगृह के बाहर गुणशील चैत्य था। उस समय नगर में महाशतक नाम का गाथापति रहता था। उसके पास कांस्य सहित आठ करोड़ स्वर्ण घर के कोष में, आठ करोड़ व्यापार में व आठ करोड़ घर के वैभव में लगे हुए थे। उसके पास आठ गोकुल थे।

उसके रेवती आदि तेरह पत्नियाँ थीं। वे सभी सम्पन्न व धनाढ्य थीं। रेवती के पितृकुल से आठ करोड़ स्वर्ण मुद्रा एवं आठ गोकुल प्राप्त हुए थे।

शेष बारह से एक करोड़ स्वर्ण मुद्रा व एक गोकुल प्राप्त था। यह सम्पत्ति महाशतक की स्वयं की सम्पत्ति के अतिरिक्त थी।

महावीर द्वारा धर्मोपदेश—एक समय श्रमण महावीर राजगृह पधारे। महाशतक ने महावीर के उपदेश से प्रभावित होकर श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किये तथा कांस्य सहित आठ-आठ करोड़ स्वर्ण मुद्राएं एवं तेरह पत्नियों को रखने की मर्यादा रखी। इस प्रकार वह श्रावक बनकर जीवाजीव का जानकर होकर विचरने लगा।

रेवती का क्रूर विचार—महाशतक की मुख्य पत्नी रेवती अत्यन्त धनाढ्य व विलासी प्रकृति की थी। उसके दिल में काम-भोग की तीव्र अभिलाषा बनी रहती थी। एक बार रात्रि में उसके मन में विचार आया कि मैं अपनी बारह सौतों की हत्या कर दूँ, ताकि मैं एकमात्र सम्पत्ति की स्वामिनी बनकर स्वेच्छानुसार भोग भोग सकूं।

कार्यरूप में परिणति—जहाँ चाह होती है वहां राह निकल जाती है। रेवती ने अपनी मंशा पूर्ण कर ही ली और आनन्दपूर्वक महाशतक के साथ भोग-भोगने लगी। इस तीव्र लालसा के कारण उसमें अनेक दुष्प्रवृत्तियां जन्म लेने लगी। वह मांस-मदिरा में लोलुप रहने लगी। एक समय ऐसा आया जब राजगृह में पशुओं की हिंसा नहीं करने को घोषणा हुई, जिससे रेवती को मांस उपलब्ध होना बन्द हो गया।

पितृगृह द्वारा विषयासक्ति की पूर्ति—'अमारि-प्रथा' लागू होने पर रेवती ने अपनी क्षुधा की पूर्ति के लिए पितृगृह के पुरुषों को बुलाकर कहा कि मेरे पितृगृह से दो बछड़े रोज मार कर लाया करो। ऐसा गुप्तरूप से होने लगा और वह विषयासक्ति में लिप्त होती गयी।

महाशतक की स्थिति—महाशतक निरन्तर धर्माराधना में लगा रहता था। व्रत नियमों का पालन करते हुए इस तरह चौदह वर्ष व्यतीत हो गये। महाशतक अपना कार्य ज्येष्ठ पुत्र को सौंपकर प्रौषधशाला में रहने लगा।

कामोद्दीप्त रेवती का प्रौषधशाला पहुँचना—एक दिन शराब के नशे में कामोद्दीप्त रेवती महाशतक के पास प्रौषधशाला में पहुँची। आकर्षक शृंगार से युक्त हो वह कहने लगी कि तुम मुझे छोड़कर यहां तप कर रहे हो। इस

तप से भी तुम्हें क्या फल मिलेगा ? मेरे साथ चलो और जीवन को भोग कर तृप्त होओ।

महाशतक द्वारा प्रतिमा ग्रहण—महाशतक ने इन वातों पर कोई ध्यान नहीं दिया और वह धर्माराधना में लगा रहा। वार-वार कहने पर भी महाशतक द्वारा मौन रहने पर निराश होकर रेवती वहां से चली गयी। महाशतक अपना साधना-क्रम तीव्र करते हुए क्रमशः ग्यारह प्रतिमाओं को ग्रहण किया।

अवधिज्ञान—कठिन तपश्चर्या से महाशतक की आत्मा शुद्ध होती गयी, कर्म रज क्षीण होते गये और इस क्रम में महाशतक को अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया।

रेवती द्वारा पुनः उपसर्ग—अवधिज्ञान के वाद रेवती एक दिन पुनः वहां पर आयी और विषय-वासना में रमण करने के लिए कहने लगी। जव वार-वार रेवती दुश्चेष्टा करने लगी तो महाशतक ने रेवती का भविष्य अवधिज्ञान से देखा और कहा—तू सात दिन में असाध्य पीड़ा पाती हुई मर जायगी और चौरासी हजार वर्ष की आयु-स्थिति वाली नरक में उत्पन्न होगी।

रेवती का मरण व नरकोगमन—यह वात सुनकर भय से कांपती हुई रेवती घर गयी। अव मौत के खौफ से वह घवराने लगी और आखिर सात दिन के अन्दर-अन्दर वह अलस रोग से पीड़ित होकर मर गयी एवं लोलुपच्युत नरक में जाकर उत्पन्न हुई।

महावीर का आगमन व प्रायश्चित्त—संयोगवश भगवान महावीर राजगृह पधारे। उन्होंने गौतम से कहा कि महाशतक श्रावक से भूल हो गयी है। सल्लेखनायुक्त श्रावक को ऐसे सत्य वचनों को नहीं कहना चाहिए जो अप्रिय या दूसरों को कष्टदायक हो। अतः महाशतक को इसके लिए प्रायश्चित्त कराओ। गौतम इस वात को कहने महाशतक के पास आये और महावीर का सन्देश कहा। महाशतक ने उसे विनयपूर्वक स्वीकार कर प्रायश्चित्त किया। इसके वाद वह कठोर साधना से आत्मविकास करता गया एवं एक मास की सल्लेखना ग्रहण कर अरुणाव्रतंसक विमान में देव रूप से उत्पन्न हुआ।

९. नन्दिनीपिता

महावीर के काल में श्रावस्ती नगर में नन्दिनीपिता नाम का एक गाथापति रहता था। उसके पास बारह करोड़ स्वर्ण मुद्राओं से युक्त सम्पत्ति थी। उसकी भार्या का नाम अश्विनी था। एक बार महावीर श्रावस्ती नगरी पधारे। नन्दिनीपिता ने महावीर के धर्मोपदेश से प्रभावित होकर गृहस्थ धर्म स्वीकार किया।

नन्दिनीपिता ने श्रावक-व्रतों की साधना के द्वारा उत्तरोत्तर आत्म-विकास कर बीस वर्ष तक श्रावक धर्म का पालन किया। अन्त में कुटुम्ब भार अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौंपकर धर्माराधना में पूर्ण रूप से संलग्न हो गया और समाधि-मरण से युक्त होकर अरुणगव विमान में उत्पन्न हुआ।

१०. सालिहीपिता

स्थानांगसूत्र में इसका नाम लेकियापिता प्राप्त होता है।[1]

श्रावस्ती में सालिहीपिता नाम का धनाढ्य गाथापति रहता था। उसकी पत्नी का नाम फाल्गुनी था। उसके पास भी बारह करोड़ स्वर्ण मुद्राएं थी तथा चार गोकुल थे।

महावीर के श्रावस्ती में पदार्पण पर उसने भी गृहस्थ धर्म स्वीकार कर लिया। चौदह वर्ष तक धर्माराधना के बाद अधिक धर्माराधना करने के उद्देश्य से अपने ज्येष्ठ पुत्र को घर का भार सौंप कर धर्मोपासना में लग गया। उपसर्ग उपस्थित नहीं होने से स्थिर चित्त हो समाधिमरण प्राप्त किया। वह अरुणकीय विमान में देव रूप में उत्पन्न हुआ।

विषय-वस्तु की विशेषताएँ

उपासकदशांग की कथावस्तु का संक्षिप्त अवलोकन करने से उसमें कतिपय ऐसी विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं जो उपासकदशांगसूत्र को अन्य सूत्रों से भिन्न रूप में प्रदर्शित करता है। ऐसी कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं :—

१. **कथानक के चरित्रों की उत्थापना एवं विकास**—उपासकदशांगसूत्र में विभिन्न उपासकों के चरित्रों का उदात्त वर्णन पाया जाता है। इसमें पुरुष व स्त्री दोनों प्रकार के चरित्र हैं। आनन्द व कामदेव जैसे श्रावक

---

१. ठाणं-मुनि नथमल, पृष्ठ १००५

हैं तो शिवानन्दा व अग्निमित्रा जैसी श्राविकाएँ भी हैं। महावीर जैसे श्रमण धर्म के नायक हैं तो गौतम जैसे शिष्य भी हैं। यही नहीं, इसमें आत्मसाधना में संलग्न श्रावक हैं तो रेवती जैसी विषय-वासना में तल्लीन स्त्री भी है। सबके चरित्रों की उत्थापना व विकास इस तरह से हुआ है कि उससे श्रावकाचार की महत्ता स्पष्टतः उजागर होती है। महावीर के चरित्र विकास की चरम सीमा इस बात से प्रकट होती है कि महावीर के विरोधी गोशालक को भी महावीर के बारे में कहना पड़ता है कि महावीर महागोप, महासार्थवाह एवं महामाहन है। इस प्रकार के विशेषणों का प्रयोग व्यक्ति के चहुँमुखी विकास को प्रकट करता है। आनन्द, कामदेव आदि श्रावकों ने गृहस्थावस्था में रहते हुए भी अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रतों को ग्रहण कर चरित्र को स्वयं विकसित किया, साथ ही अपनी भार्याओं को भी आत्म-विकास करने के लिए प्रोत्साहित किया।[1] यह स्थिति श्रावकों के स्व-कल्याण के साथ-साथ पर-कल्याण की दृष्टि को भी स्पष्ट करती है।

सामाजिक व्यवस्था सुचारु रूप से चले इसके लिए आनन्द आदि श्रावकों ने व्रत ग्रहण करने के बाद भी वस्तुओं की मर्यादा निश्चित की।[2] यह मर्यादा इसलिए निश्चित की गयी ताकि उन पर आश्रित व्यक्तियों को कष्ट नहीं पहुँचे। व्यक्ति सरल व विनयी हो, इसके लिए गौतम ने आनन्द श्रावक के अवधिज्ञान के विषय में संशय होने पर क्षमा-याचना की।[3] साधु द्वारा श्रावक से क्षमायाचना करना चरित्र के चरमोत्कर्ष विकास को प्रदर्शित करता है। श्रावकों ने आचार धर्म की पालना करते हुए अपने चरित्र को इतना उदात्त बना दिया और विभिन्न उपसर्गों की वेदना को इस प्रकार समभाव पूर्वक सहा कि समय-समय पर स्वयं भगवान महावीर को भी उनकी प्रशंसा करनी पड़ी और अपने शिष्य-परिवार को उनसे प्रेरणा ग्रहण करने को कहना पड़ा। यह इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि उनके चरित्र का विकास कितनी ऊँचाई तक हो गया था। श्रावकों को अवधिज्ञान की उपलब्धि होना एवं मृत्यु के उपरान्त उनका देवलोकगमन

---

१. उवासगदसाओ—(सं०) मुनि मधुकर, सूत्र १/१२, १/५८, २/९२

२. वही, १/१७ से १/४२ तक

३. उवासगदसाओ—(सं०) मुनि मधुकर, १/८७

भी यह बताता है कि उपासकदशांग में ये चरित्र आत्मविकास की चरम-स्थिति में पहुँच गये थे।

२. **परिवार में रहकर आत्मकल्याण**—उपासकदशांगसूत्र से स्पष्ट है कि व्यक्ति परिवार व समाज में रहकर भी परम आत्म-तत्त्व को प्राप्त कर सकता है। सिद्ध अवस्था में जाने के लिए साधु होना जरूरी नहीं है। उपासकदशांग की मूल विशेषता ही श्रमण-जीवन के समकक्ष श्रावक-जीवन को खड़ा करना है। गौतम द्वारा आनन्द श्रावक के अवधिज्ञान में संशय प्रकट करना यह बताता है कि श्रावक साधना के माध्यम से सर्वोत्कृष्ट सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती, किन्तु आनन्द ने इसे निराधार कर दिया और श्रमणों के समकक्ष श्रावकों को खड़ा होने का प्रमाण दिया।

उपासना-रत श्रावक भी कठोर तपाराधना कर सकता है[1] और तपाराधना के साथ-साथ अनुकूल व प्रतिकूल उपसर्गों व परिषहों में विजय पा सकता है। कामदेव श्रावक ने देवकृत पिशाच रूप उपसर्ग आने पर भी अन्त तक दृढ़ता रखी।[2] चुलनीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक व सकडालपुत्र ने देवकृत उपसर्गों को सहा भी और स्खलित भी हुए किन्तु पुनः प्रायश्चित्त करके धर्माराधना में प्रवृत्त हुए। महाशतक श्रावक को स्वयं की पत्नी रेवती द्वारा कामभोगों में प्रवृत्त होने का निमंत्रण देना एवं विभिन्न कामोत्तेजक हाव-भावों द्वारा डिगाने की चेष्टा करने पर भी वह अपने व्रत में दृढ़ रहा।[3] यह सब बातें कथानक की इस विशेषता की ओर संकेत करती है कि व्यक्ति परिवार में रहकर भी आत्म कल्याण कर सकता है।

३. **विषयवस्तु का साहित्यिक स्वरूप**—उपासकदशांगसूत्र में विषयवस्तु में सजीवता लाने के लिए अलंकारिक व चमत्कारिक शैली का प्रयोग किया गया है। कामदेव नामक दूसरे अध्याय में पिशाच, हाथी व सर्प का वर्णन है जिसमें कहा गया है कि पिशाच का सिर गाय को चारा देने की टोकरी जैसा था, आँखें मटकी जैसी थी, हाथों की अंगुलियां

---

१. उवासकदसाओ—(सं०) मुनि मधुकर, १/७२
२. वही, २/१११
३. वही, ८/२४६-२४७

लोढी के समान थी और पैर दाल आदि पिसने की शिला के सदृश थे। हाथी के रूप का वर्णन करते हुए बताया गया है कि वह आगे से ऊँचा व पीछे से सूअर के समान झुका हुआ था, उसकी सूँड़ व होंठ लम्बे थे। मुँह से बाहर निकले दाँत बेले की अधखिली कली के समान सफेद थे। वह बादलों की तरह गरज रहा था।

साँप को स्याही व मूस-धातु गलाने के पात्र जैसा काला बताया गया है। उसकी वजह से वह पृथ्वी की वेणी के सदृश लगता था।

देव के रूप का वर्णन करते हुए कहा है कि देव मांगलिक पोशाक, उत्तम मालाओं व विविध विलेपन से युक्त था। देवोचित वर्ण, गंध, रूप, स्पर्श का धारक वह देव मन में बस जाने वाले दिव्यरूप वाला था।

इस प्रकार के वर्णन से जहाँ कथानक की भाषा में सौष्ठव पैदा हुआ है वहीं उसमें प्रवाह क्षमता भी बढ़ी है, जिससे कथानक सजीव हो गया है और ऐसा लगता है कि समस्त उपसर्ग स्वयं अपनी आँखों के सामने घटित हो रहे हैं। विषयवस्तु का यह साहित्यिक स्वरूप उपासकदशांगसूत्र को साहित्यिक विशेषताओं से युक्त कृति सिद्ध करता है।

४. **कथावस्तु में तार्किक संवादों का प्रयोग**—कथावस्तु में विभिन्न प्रसंगों पर संवादों का प्रयोग कथानक को पुष्ट करने एवं उसे गति देने के लिए हुए हैं। ऐसे संवादों में आनन्द व गौतम, कुण्डकौलिक और देव, सकडालपुत्र एवं महावीर तथा सकडालपुत्र व गोशालक के संवाद मुख्य हैं। ये संवाद जहाँ जैनधर्म के सिद्धान्तों की व्याख्या करते हैं वहीं आत्मोत्थान की प्रक्रिया को पुष्ट करने के साधन-रूप भी होते हैं। आत्म कल्याण के लिए कौन-सा मार्ग समीचीन है और कौन-सा नहीं है, यह तथ्य भी इन संवादों से सुस्पष्ट होता है। कुछ संवाद विभिन्न शंकाओं के समाधान से सम्बन्धित भी हैं। इन सब संवादों में एक बात सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और वह है—इन सब संवादों में पात्रों द्वारा अपने-अपने तर्कों से अपनी बात को प्रामाणिक करने की चेष्टा करना। ऐसे प्रयास में यह संवाद तार्किकशैली से ओत-प्रोत भी है और दार्शनिक स्वरूप से अलंकृत भी। इस विशेषता के फलस्वरूप उपासकदशांगसूत्र श्रावकाचार का एक प्रमुख ग्रन्थ बन गया है।

५. **कथानकों में मानव मनोविज्ञान का समावेश**—उपासकदशांगसूत्र की विभिन्न कथाओं में मानव मनोविज्ञान का सफल चित्रण हुआ है। इससे यह पता चलता है कि एक पात्र दूसरे पात्र को अपने अनुकूल बनाने के लिए किस स्तर तक जाकर प्रयत्न करता है। सकडालपुत्र जब गोशालक की विचार-धारा से विमुख होकर महावीर का अनुयायी बन जाता है तब गोशालक उस सकडालपुत्र को पुनः अपना अनुयायी बनाने के लिए मनोविज्ञान का सहारा लेता है और महावीर की प्रशंसा कर उसके मानस को अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा करता है, उसी क्रम में सकडालपुत्र भी तदनुरूप आचरण कर यह स्पष्ट कर देता है कि उसके लिए महावीर द्वारा बताया गया रास्ता ही सही है। दोनों एक-दूसरे के मनोभावों को समझकर जिस तरह प्रश्नोत्तर करते हैं, वह मानव मनोविज्ञान का एक उपयुक्त उदाहरण है। इसी तरह रेवती अपने पति महाशतक को अपने मनोभावों के अनुरूप ढालने के लिए तदनुकूल मानव मनोविज्ञान का सहारा लेती है, यद्यपि वह असफल होती है, किन्तु उसके स्वभाव को समझने के लिए यह घटना काफी है। ऐसे और भी प्रसंग हैं, जिससे कथानक में मानव मनोविज्ञान की विशेषता दृष्टिगोचर होती है।

इस प्रकार उपासकदशांगसूत्र की कथावस्तु और उसकी विशेषताएँ जैनधर्म में साधना के स्वरूप को समझने के लिए एक आधार भूमिका का निर्माण करती है।

●

चतुर्थ अध्याय

उपासकदशांग का रचनाकाल एवं भाषा

उपासकदशांग अर्द्धमागधी आगम साहित्य का एक प्रमुख ग्रन्थ है। यद्यपि इसमें कहीं-कहीं महाराष्ट्री का प्रभाव देखा जाता है किन्तु अर्द्ध-मागधी आगमों पर महाराष्ट्री का यह प्रभाव सर्वत्र ही पाया जाता है। यहाँ तक कि प्राचीनतम माने जाने वाले आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध, दशवैकालिक और उत्तराध्ययन में भी यह प्रभाव आ गया है। वस्तुतः अर्द्धमागधी आगम साहित्य की परम्परा लगभग एक हजार वर्ष तक मौखिक रूप से चलती रही, अतः उसकी भाषा में परिवर्तन आना स्वाभाविक ही था। यदि हम गंभीरतापूर्वक अध्ययन करें तो यह पाते हैं कि जो आगम ग्रन्थ अधिक प्रचलन में रहे, उन पर महाराष्ट्री का प्रभाव अधिक पड़ा और जो ग्रन्थ कम प्रचलन में रहे उन पर महाराष्ट्री का प्रभाव कम पड़ा। उदाहरण के रूप में ऋषिभाषित में आचारांग, दशवैकालिक और उत्तराध्ययन की अपेक्षा महाराष्ट्री का प्रभाव कम देखा जाता है। अतः महाराष्ट्री के इस प्रभाव के कारण यह मान लेना उचित नहीं होगा कि उपासकदशांग परवर्ती काल का आगम है। इतना तो निश्चित है कि उपासकदशांग आचारांग के बाद बना होगा, किन्तु वह उसके बहुत बाद का होगा, यह कहना समुचित नहीं है। कम से कम उसे आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के निकट तो माना जा सकता है। इसका कारण यह है कि जैन परम्परा में सर्वप्रथम आचार सम्बन्धी ही ग्रन्थ बने होंगे। मुनि आचार के ग्रन्थों के निर्माण के पश्चात् स्वाभाविक रूप से यह आवश्यकता महसूस हुई होगी कि श्रावक-आचार पर भी कोई ग्रन्थ हो। इस दृष्टि से उपासकदशांग की रचना मुनि आचार सम्बन्धी आगम ग्रन्थों की रचना के चाहे बाद में हुई हो किन्तु फिर भी इसे अधिक परवर्ती नहीं कहा जा सकता। कम से कम भद्रबाहु द्वारा रचित छेद सूत्रों के समकाल या परवर्ती काल में इसकी रचना अवश्य हो गयी होगी। जब चतुर्विध संघ में श्रावक-श्राविका एक अनिवार्य घटक बन गये तो आवश्यक था कि उनकी आचार-व्यवस्था का भी प्रतिपादन हो। उपासक-

दशांग श्रावक आचार का प्रथम ग्रन्थ है क्योंकि शेष सभी श्रावक-आचार सम्बन्धी ग्रन्थ और उल्लेख ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी के बाद के ही हैं। अतः प्रतिपाद्य विषय-वस्तु की दृष्टि से इसे ईसा पूर्व अथवा ईसा की प्रथम शताब्दी के आसपास रखा जाना चाहिए। यह बात अलग है कि कालान्तर में परिवर्तन या पाठ प्रक्षेप हुए हैं किन्तु इसकी विषयवस्तु तो निश्चित ही प्राचीन स्तर की है।

जहाँ तक उपासकदशांग के बाह्य साक्ष्यों का प्रश्न है, इसका सर्वप्रथम उल्लेख हमें स्थानांग में मिलता है। स्थानांग के बाद समवायांग और नन्दीसूत्र में भी इसके उल्लेख प्राप्त होते हैं। स्थानांगसूत्र में दशा पद के अन्तर्गत दस अध्ययन वाले दस आगम कहे गये हैं। जिनमें—कर्मविपाकदशा, उपासकदशा, अन्तकृत्दशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, आचारदशा, प्रश्नव्याकरणदशा, बंधदशा, द्विगृद्धिदशा, दीर्घदशा एवं साक्षेपिक दशा हैं।[1] जिनमें छः दशाओं का परिचय वृत्तिकार ने दिया है और शेष को ज्ञात नहीं करके छोड़ दिया है। इसी ग्रन्थ में उपासकदशांग के दस अध्ययनों की सूची दी है जहाँ—आनन्द, कामदेव, चुलिनीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुण्डकौलिक, सद्दालपुत्त, महाशतक, नन्दिनीपिता और लेकियापिता के नाम हैं। समवायांग व नन्दीसूत्र में भी इसके नाम तथा दस अध्ययनों के होने का उल्लेख मिलता है।

उपासकदशांग के काल निर्धारण के लिए यह देखना होगा कि इन तीनों ग्रन्थों में कौन सा उल्लेख प्राचीनतम है। यदि हम अन्य दशाओं और आगम ग्रन्थों के सन्दर्भ में इन तीनों की तुलना करें तो स्पष्ट हो जाता है कि इनमें प्राचीनतम उल्लेख स्थानांग का ही है। इसका आधार यह है कि जहाँ अन्तकृत्दशा के विवरण का प्रश्न है, स्थानांग में उसके मात्र दस अध्ययनों का ही उल्लेख है। समवायांग सात वर्गों का उल्लेख करता है और नन्दी आठ वर्गों का उल्लेख करता है। इससे स्पष्ट ऐसा लगता है कि जैसे-जैसे अन्तकृत्दशांग की विषयवस्तु बदलती गयी, वैसे-वैसे उसके विषयवस्तु-सम्बन्धी विवरण भी बदलते गये और इनमें प्राचीनतम विवरण स्थानांग का ही लगता है क्योंकि स्थानांग इसके नाम के साथ लगे हुए दशा शब्द का सार्थक विवरण देता

---

१. ठाणं—मुनि नथमल, १० वाँ स्थान।

है, जबकि अन्य ग्रन्थों में इसकी विषयवस्तु को देखकर यह सार्थक नहीं लगता। यही स्थिति अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरणदशा और विपाकदशा की भी है। यदि हम स्थानांग, समवायांग और नन्दी में इनके विषय-वस्तु के विवरण को तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो निश्चित रूप से कह सकते हैं कि स्थानांग के विवरण ही प्राचीन हैं। प्रश्नव्याकरण की वर्तमान विषयवस्तु का उल्लेख तो केवल हमें नन्दीचूर्णि में आकर मिलता है। अतः यह स्पष्ट है कि स्थानांग उपासकदशांग का जो विवरण प्रस्तुत करता हैं वह इस ग्रन्थ का प्राचीनतम विवरण है। यद्यपि यह संयोग ही है कि यही एकमात्र ऐसा आगम ग्रन्थ है जिसके अध्ययन आदि के नाम, क्रम आदि यथावत् रहे हैं और इससे ऐसा लगता है कि इसमें परिवर्तन, यदि हुए भी तो अल्पतम ही हुए होंगे।

स्थानांग, समवायांग की अपेक्षा प्राचीन है, यह तो निर्विवाद ही सिद्ध है। स्थानांग में हमें सात निह्नवों के नाम मिलते हैं और इसी प्रकार कुछ गणों के भी उल्लेख मिलते हैं। ये सातों निह्नव महावीर के निर्वाण से ५८४ वर्ष पश्चात् ही हुए हैं। इसी प्रकार जिन गणों के उल्लेख मिलते हैं, वे भी ईसा की प्रथम शताब्दी में अस्तित्व में आ चुके थे। बोट्टिक नामक आठवां निह्नव माना गया है, जिसका उल्लेख स्थानांग में नहीं है। यह निह्नव महावीर के निर्माण के ६०९ वर्ष बाद हुआ। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्थानांग की रचना ईस्वी सन् की द्वितीय शताब्दी के पूर्व हो चुकी थी और चूँकि स्थानांग में उपासकदशांग की वर्तमान विषयवस्तु का उल्लेख है अतः वर्तमान उपासकदशांग भी ईस्वी सन् की द्वितीय शताब्दी के पूर्व तो अवश्य ही अपने वर्तमान स्वरूप में उपलब्ध था, अतः विषय-वस्तु, भाषा और अन्तर बाह्य साक्ष्यों से ऐसा लगता है कि उपासकदशांग ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी से ईसा की प्रथम शताब्दी के मध्य कभी निर्मित हुआ होगा।

उपासकदशांग में श्रावक व्रतों का विभाजन अणुव्रतों और शिक्षाव्रतों के रूप में हुआ है, जबकि तत्त्वार्थसूत्र में, जो कि श्रावकाचार का प्रतिपादन करने वाला इसके बाद का ग्रन्थ है, श्रावक के बारह व्रतों का वर्गीकरण अणुव्रत, गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत इन तीन रूपों में हुआ है। अतः यह निश्चित रूप से मानना होगा कि उपासकदशांग का वर्गीकरण प्राथमिक एवं तत्त्वार्थ का वर्गीकरण परवर्ती है। ऐसी स्थिति में यह भी

मानना होगा कि उपासकदशांग तत्त्वार्थ से पहले निर्मित हुआ। तत्त्वार्थ का रचनाकाल विद्वानों ने लगभग ईसा की तीसरी या चौथी शताब्दी माना है, अतः उपासकदशांग का रचना काल उसके पहले माना जा सकता है।

पुनः पालि त्रिपिटक में उपोसथ की चर्चा के प्रसंग में निग्रंन्थ उपोषध का उल्लेख है, जो अंग आगम साहित्य में हमें भगवती और उपासकदशांग में भी प्राप्त होता है, अतः यह कहा जा सकता है कि उपासकदशांग की विषयवस्तु प्राचीन स्तर की ही है, जिसकी कुछ अवधारणाएँ तो बुद्ध और महावीर के समकालीन कही जा सकती हैं।

भाषा की दृष्टि से उपासकदशांग को परवर्ती सिद्ध करने के लिए यह तर्क दिया जाता है कि इसमें समासबहुल पद और पुनरावृत्तियाँ काफी अधिक हैं। परन्तु जहाँ तक समासबहुल पदों का प्रश्न है वे प्राचीन स्तर के ग्रन्थों में भी कहीं-कहीं पाये जाते हैं जैसे-आचारांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पन्द्रहवें अध्ययन में निम्न पद पाया जाता है :—

"ईहामिय-उसभ-तुरग-णर-मकर-विहग-वाणर-कुंजर"[1] इसी तरह ज्ञाताधर्मकथांग में निम्न समास पद पाया जाता है।

"धवल-वट्ट-असिलिट्ठ-तिक्ख-थिर-पीण-कुडिल-दाढोवगू ढवयणं"[2]

पालि त्रिपिटक में तो अनेक स्थानों में हमें समास बहुल पद मिलते हैं।

जहाँ तक पुनरुक्ति का प्रश्न है वह तो आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में तथा पालि त्रिपिटकों में भी बहुलता से मिलती हैं। पादपूर्ति में यद्यपि कुछ परवर्ती ग्रन्थों की सूचनाएँ आयी हैं किन्तु यह कार्य इन आगमों के सम्पादन एवं लिपिबद्ध किये जाने के समय हुआ है।

अतः इन आधारों पर इसे परवर्ती नहीं माना जा सकता है। हमारी दृष्टि में तो इस ग्रन्थ की रचनाकाल की अपर सीमा ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दी व अन्तिम सीमा ईसा की प्रथम शताब्दी ही मानी जानी चाहिए।

---

१. आचारांग सूत्र—मुनि मधुकर, पृष्ठ ३८२।

२. ज्ञाताधर्मकथांग—मुनि मधुकर, अध्याय ८, पृ० २३५

अर्द्धमागधी एवं उपासकदशांग की भाषा का स्वरूप

प्राकृत भाषा-समूह की गणना मध्य भारतीय आर्यभाषा में की गयी है। कुछ विद्वानों ने इसे लोक-भाषा के रूप में प्रचलित मौलिक एवं स्वतन्त्र भाषा माना है, जबकि दूसरे कुछ विद्वानों ने इसका विकास वैदिक संस्कृत व छान्दस् भाषा से माना है। प्राकृत की प्रकृति वैदिक भाषा से मिलती-जुलती है।[1] स्वर विभक्ति के प्रयोग प्राकृत व छान्दस् दोनों भाषाओं में समान रूप से पाये जाते हैं। अतः दोनों को समकालिक और सहवर्ती भी माना जा सकता है। यदि छान्दस् भाषा से प्राकृत की उत्पत्ति हुई, तो भी यह मानना होगा कि वह छान्दस् उस समय की जनभाषा रही होगी। चूंकि लौकिक व साहित्यिक संस्कृत भाषा भी छान्दस् से विकसित हुई है इसीलिये विकास की दृष्टि से संस्कृत व प्राकृत सहोदरा भी कही जा सकती है।

प्राचीन भारत की मूल भाषा व बोली का स्वरूप क्या था, यह तो स्पष्ट नहीं है परन्तु आर्यों की अपनी एक अलग ही भाषा थी, उस पर अन्य जातियों की भाषा का भी प्रभाव निश्चित रूप से पड़ा था, उसी से विभिन्न प्राकृतें और छान्दस् संस्कृत विकसित हुई होगी। इस छान्दस् को मनीषियों ने पद, वाक्य, ध्वनि व अर्थ इन चारों अंगों को विशेष अनुशासन में आबद्ध कर दिया, जिससे संस्कृत भाषा का विकसित रूप सामने आया। भगवान महावीर व बुद्ध ने अपने उपदेश तत्कालीन जन भाषा में दिये, जिससे जन भाषा के विकास में एक नया परिवर्तन आया। फलतः पालि और विभिन्न प्राकृत साहित्यिक भाषा के रूप में अस्तित्व में आयी।

प्राकृत के भेद—

विभिन्न वैयाकरणों ने अपने ग्रन्थों में प्राकृत भाषाओं के भेद किये हैं, उनमें आचार्य वररुचि ने महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी व शौरसेनी को प्राकृत भाषा माना है। हेमचन्द्र ने इसके साथ-साथ आर्ष, चूलिका पैशाची व अपभ्रंश को भी प्राकृतभाषा माना है। त्रिविक्रम भी इन्हीं भाषाओं को प्राकृत मानते हैं, परन्तु मार्कण्डेय महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती व

---

१. शास्त्री, नेमिचन्द्र—प्राकृत भाषा व साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ८

मागधी को प्राकृत भाषाएँ मानते है।[1] आचार्य भरत ने इनके साथ अर्द्धमागधी का भी उल्लेख किया है।[2] अन्य व्याकरणकार अर्द्धमागधी व शौरसेनी को मागधी में ही सम्मिलित मानकर अलग से इसका नामोल्लेख नहीं करते हैं।

अर्द्धमागधी का स्वरूप—

उपासकदशांग अर्द्धमागधी भाषा का आगम है अतः यहाँ अर्द्धमागधी के स्वरूप पर विचार कर लेना आवश्यक है।

साधारण रूप से अर्द्धमागधी का अर्थ "अर्धमागध्या" अर्थात् अर्धांश मागधी से किया जाता है। आचार्य अभयदेव ने उपासकदशांगसूत्रटीका में मागधी के पूर्ण लक्षण नहीं पाये जाने के कारण इसे अर्द्धमागधी कहा है। उन्होंने लिखा है कि—

"अर्धमागधी भाषा यस्यां रसौलशो
मागध्यामित्यादिकम् मागधभाषा
लक्षणं परिपूर्णं नास्ति"

अर्थात् जिसमें मागधी के पूर्ण लक्षण रकार, सकार के स्थान पर शकार नहीं पाये जाते हैं, उसे अर्द्धमागधी कहते हैं।[3]

ख्रीस्त की सातवीं शताब्दी के ग्रंथकार जिनदासगणि महत्तर ने निशीथचूर्णि में मगधदेश के अर्धांश में प्रयुक्त होने के कारण इसे अर्द्धमागधी बताया है।[4] यहीं पर कहा गया है कि मागधी व देशी शब्दों का इस भाषा में मिश्रण होने के कारण भी इसे अर्द्धमागधी कहते हैं।[5] इन दोनों कथनों के पीछे दृष्टिकोण यह रहा है कि अर्द्धमागधी का उत्पत्ति स्थान पश्चिमी मगध व शूरसेन का मध्यवर्ती प्रदेश अयोध्या रहा था। मूलतः

१. पिशेल—प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पैरा ३
२. जैन, डा० प्रेम सुमन—'प्राकृत व्याकरण शास्त्र का उद्भव व विकास' नामक लेख, संस्कृत प्राकृत जैन व्याकरण व कोश की परम्परा, पृष्ठ २१८
३. उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ११८
४. "मगहद्धविसयभाषानिबद्धं अद्धमागहं"
—शास्त्री, नेमिचन्द्र-अभिनव प्राकृत व्याकरण, पृष्ठ ४०९
५. "मगहद्धविसय भासाणिबद्ध अद्धमागहं अट्ठारस देसी भासाणिमयं वा अद्धमागह'
—निशीथचूर्णि

मगध में मागधी व शूरसेन में शौरसेनी भाषा प्रचलित थी, अतः दोनों के मध्यवर्ती प्रदेश अयोध्या में यह भाषा प्रचलित होने के कारण अर्द्धमागधी नाम दिया गया। भगवान महावीर के शिष्य मगध, मिथिला, कौशल आदि अलग-अलग प्रदेश, वर्ण व जाति के थे, अतः स्वाभाविक है कि देशी भाषाओं का मिश्रण हुआ ही होगा।

पिशेल के अनुसार जैनों ने अर्द्धमागधी को अथवा वैयाकरणों द्वारा वर्णित आर्षभाषा को मूल माना है जिससे अन्य बोलियाँ या भाषाएँ निकली हैं।[1] मुनि नथमल की मान्यता है कि देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने आगमों का नया संस्करण वल्लभी वाचना में किया, उसके बाद महाराष्ट्र में जैन श्रमणों का विहार होने लगा उस स्थिति में आगम सूत्रों की भाषा महाराष्ट्री से प्रभावित हुए बिना नहीं रही। आचार्य हेमचन्द्र का विहार स्थल भी गुजरात रहा जो कि महाराष्ट्र का समीपवर्ती प्रदेश है। उन्होंने भी प्रचलित प्रयोगों का अपने व्याकरण शास्त्र में उपयोग किया जिसे आर्ष प्रयोग के रूप में आख्यात किया। अतः महाराष्ट्री अर्धमागधी के बहुत निकट मानी जाती है।[2]

अर्धमागधी की भाषात्मक विशेषताएँ

प्राकृत भाषा के विभिन्न भेदों व उनकी विशेषताओं का वर्णन विभिन्न वैयाकरणों ने किया है लेकिन किसी भी प्राचीन वैयाकरण ने स्वतन्त्र रूप से अर्धमागधी प्राकृत की विशेषताओं का उल्लेख कहीं नहीं किया है, क्योंकि अर्धमागधी प्राकृत की विशेषताएँ कोई स्वतन्त्र रूप से अपना अस्तित्व नहीं रखती। इसकी प्रायः सभी विशेषताएँ मागधी, शौरसैनी व महाराष्ट्री के सम्मिश्रण से निर्मित है। अतः इसका अलग से उल्लेख करना इन ग्रन्थकारों ने उचित नहीं समझा।

अर्धमागधी की प्रमुख विशेषताओं का परिचय पिशेल के प्राकृत भाषाओं के व्याकरण, नेमिचन्द्र शास्त्री के अभिनव प्राकृत व्याकरण, पं० हरगोविन्ददास के पाइअसद्दमहण्णवो की भूमिका व डॉ० कोमल चन्द्र जैन के प्राकृत प्रवेशिका नामक ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

---

१. पिशेल—प्राकृत भापाओं का व्याकरण, पृष्ठ २५-२६

२. मुनि नथमल—'आर्ष प्राकृत स्वरूप व विश्लेषण' नामक लेख, संस्कृत प्राकृत जैन व्याकरण व कोष की परम्परा, पृष्ट २३५-२३६

अर्धमागधी की प्रमुख विशेषताओं का सोदाहरण विवरण डॉ० शास्त्री ने अपनी पुस्तक में दिया है।[1]

उन अर्धमागधी भाषा की प्रमुख विशेषताओं में से उपासकदशांगसूत्र में निम्न विशेषताएँ पायी जाती हैं।

वर्ण परिवर्तन सम्बन्धी विशेषताएँ—

१. दो स्वरों के मध्यवर्ती असंयुक्त 'क' के स्थान पर 'ग' पाया जाता है। कहीं-कहीं पर 'त' एवं 'य' भी होते हैं।[2] यथा—

आकाश	=	आगास	(उवा० सू० ३/१३६, ३/१४५, ४/१५४)
श्रावक	=	सावग	(उवा० सू० २११)
शाकविधि	=	सागविहि	(उवा० सू० ३८)

'क' का 'त' एवं 'य' यथा—

कोटुम्बिक	=	कोडुंबिय	(उवा० सू० १२, ५९, २०६, २०७)
माडम्बिक	=	माडंबिय	(उवा० सू० १२)

२. दो स्वरों के बीच का 'ग' प्रायः कायम रहता है। यथा—

आगमन	=	आगमणं	(उवा० सू० ८६)
भगवान्	=	भगवं	(उवा० सू० ९, १०, ११, ४४, ६०, ६२, ७५)

३. दो स्वरों के बीच में आने वाले 'च' एवं 'ज' के स्थान पर मागधी की तरह 'य' एवं 'त' दोनों बनते हैं।[3] यथा—

नाराच	=	णाराय	(उवा० सू० ७६)
प्रवचन	=	पावयण	(उवा० सू० १२, १०१, १११ २१०, २२२)
व्रज	=	वय	(उवा० सू० ४,१८,१५०)

---

१. शास्त्री, नेमिचन्द्र—अभिनव प्राकृत व्याकरण, पृष्ठ ४१०-४१७

२. क. "प्रथमस्य तृतीयः"—चण्ड प्राकृत लक्षण, सूत्र ३/१२

ख. हेमचन्द्र—प्राकृत व्याकरण सूत्र १/१८२

३. "ज- द्य- यां- यः"—हेमचन्द्र-प्राकृत व्याकरण, सूत्र ४/२९२

४. दो स्वरों के मध्यवर्ती 'त' प्रायः बना रहता है व कहीं-कहीं पर 'य' भी होता है।[1] जैन महाराष्ट्री का भी यही नियम है। यथा—

वंदित्वा	=	वंदित्ता	(उवा० सू० ९)
संतत्तो	=	सत्तए	(उवा० सू० ७२, ७३)
महातपाः	=	महातवे	(उवा० सू० ७६)

'त' का 'य' में निदर्शन। यथा—

करत	=	करय	(उवा० सू० १८४)
कृतार्थः	=	कयत्थ	(उवा० सू० १११)

५. दो स्वरों के बीच स्थित 'द' का 'द' बना रहता है। अधिकतर 'त' भी पाया जाता है व कहीं-कहीं पर 'य' भी होता है।[2] यथा—

अदत्तादानं	=	अदिण्णादाणं	(उवा० सू० १५, ४७)
प्रतिदर्शयति	=	पडिदंसइ	(उवा० सू० ८६)

'द' का 'त' में परिवर्तन। यथा—

वद	=	वुत्त	(उवा० सू० ८६)

'द' का 'य' में निदर्शन। यथा—

वाद	=	वाय	(उवा० सू० ४६)
वदन	=	वयण	(उवा० सू० ९५)
चतुष्पद	=	चउप्पय	(उवा० सू० १८, ४९)

६. दो स्वरों के मध्यवर्ती 'प' का 'व' होता है।[3] यथा—

सपत्नी	=	सवत्तीओ	(उवा० सू० २३९)

---

१. पिशेल—प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पैरा १९५

२. शास्त्री, नेमिचन्द्र—अभिनव प्राकृत व्याकरण, पृष्ठ ४१३

३. ''पो व :'' प्राकृत व्याकरण—आचार्य हेमचन्द्र, १/२३१

पिपासित	=	पिवासिया	(उवा० सू० २४२)
परव्यपदेश	=	परववएसे	(उवा० सू० ५६)

७. दो स्वरों का मध्यवर्ती 'य' प्रायः ज्यों का त्यों बना रहता है व कहीं-कहीं पर 'त' भी हो जाता है ।[1] यथा—

पेयाला	=	पेयाला	(उवा० सू० ४४, ४५)
नियय	=	नियग	(उवा० सू० १६८, १६९)

८. दो स्वरों के मध्यवर्ती 'व' के स्थान पर 'व' 'त' एवं 'य' पाया जाता है।

संवत्सरा	=	संवच्छरा	(उवा० सू० २४१)
तलवर	=	तलवर	(उवा० सू० १२)

९. शब्द के आदि, मध्य व संयोग में सर्वत्र 'ण' की जगह 'ण' एवं 'न' भी जैन महाराष्ट्री की तरह स्थिर रहता है ।[2] यथा—

श्रमणेन	=	समणेण	(उवा० सू० ८)
भक्षणता	=	भक्खणया	(उवा० सू० ५१)

१०. 'स' 'श' एवं 'ष' की जगह सर्वत्र 'स' पाया जाता है ।[3] यथा—

पुरुषं	=	पुरिस	(उवा० सू० १३६)
गोशालो	–	गोसाले	(उवा० सू० २१८)

११. 'यथा' व 'यावत' शब्द में 'य' का लोप व 'ज' दोनों मिलते हैं ।[4] जैन महाराष्ट्री में भी यही रूप बनता है । यथा—

यावज्जीवं	=	जावज्जीवाए	(उवा० सू० १३, १४, १५, १७, १८)
यथासुखं	=	अहासुहं	(उवा० सू० १२)

१. "ज-द्य-यां-यः" प्राकृत व्याकरण—आचार्य हेमचन्द्र, ४/२९२
२. "श-षोः-सः" प्राकृत व्याकरण—आचार्य हेमचन्द्र, १/२६०
३. शास्त्री, नेमिचन्द्र—अभिनव प्राकृत व्याकरण, पृष्ठ ४४२
४. शास्त्री, नेमिचन्द्र—अभिनव प्राकृत व्याकरण, पृष्ठ ४४२

१२. 'गृहम्' शब्द के लिए निम्न आदेश होते हैं। यथा—

गृहम्	=	घर गिहि	(उवा० सू० १०, १२, ५८, ६१, ७७, ७८)
गृहम्	=	गिह,	(उवा० सू० ५८)

१३. 'पर्याय' शब्द के 'र्याय' भाग के स्थान पर विकल्प से 'इयाअ' एवं "इयाय' आदेश होते हैं। यथा—

पर्यायं	=	परियायं	(उवा० सू० ६२)
पर्यायां	=	परियाओ	(उवा० सू० २७१)

१४. उपासकदशांगसूत्र में ऐसे शब्द भी सम्मिलित हैं जिनके रूप महाराष्ट्री से भिन्न होते हैं। यथा—

उपासक-दशांगसूत्र		महाराष्ट्री	
केस	=	केरिस	(उवा० सू० ५१)
तच्च (तृतीय)	=	तइअ	(उवा० सू० ७१, ७९)
तच्च (तथ्य)	=	तच्छ	(उवा० सू० ७०, ८५)
दोच्च	=	दुइअ	(उवा० सू० ७१, ९७, १०४)
पडुप्पन्न	=	पच्चुप्पण्ण	(उवा० सू० १८७)
पव	=	पाय	(उवा० सू० १०, ८१, १०२)
पुव्वि	=	पुव्वं	(उवा० सू० ५८, १९७)
ब्राह्मण	=	माहण	(उवा० सू० २१८)

१५. उपासकदशांगसूत्र में संख्यावाची शब्द भी महाराष्ट्री से भिन्न है। यथा—

बारस	=	दुवालस आदि	(उवा० सू० १२, ५८, २११, २३४)

शब्द रूपों की विशेषताएँ—

अकारान्त पुल्लिग शब्द

विभक्ति	एक वचन प्रत्यय	उवासग० प्रयोग	बहुवचन प्रत्यय	उवासग० प्रयोग
प्रथमा	ए[1]	आणंदे (उवा० सू० ३)	आ[2]	परिसा (उवा०सू० ९)
	ओ[3]	तिक्खुत्तो (उवा० सू० ९)		
द्वितीया	(.) अनुस्वार[4]	अप्पाणं (उवा० सू० २)	ए	कामभोए (उवा० सू० ६)
तृतीया	एण[5]	महावीरेण (उवा० सू० २)	हि[6]	मंसेहि (उवा० सू० २४०)
	सा	मणसा (उवा० सू० १३)	हिं[6]	वाहणेहिं उवा० सू० २०)
चतुर्थी	आए	अमाघाए (उवा० सू० २४१)	णं	ओदणेणं (उवा सू० ३५)
पंचमी	ओ[7]	गिहाओ (उवा० सू० १०)	हिंतो[8]	कोलघरिएंहितो वएहितो (उवा० सू० २४२)
	आए	नावाए (उवा० सू० १५८)		

१. "अत एत् सौ पुंसि मागध्याम्"—प्राकृत व्याकरण—आचार्य हेमचन्द्र, ४/२८७
२. "जस्-शसोर्लुक"—प्राकृत व्याकरण—आचार्य हेमचन्द्र, ३/४
३. "अतः से र्डोः"—प्राकृत व्याकरण—आचार्य हेमचन्द्र, ३/२
४. "अमोस्य"—प्राकृत व्याकरण—आचार्य हेमचन्द्र, ३/५
५. "टा-आमो र्णः" एवं "टाण-शस्येत्"—प्राकृत व्याकरण—आचार्य हेमचन्द्र ३/६, ३/१४
६. "भिसो हि हिँ हिं"—प्राकृत व्याकरण—आचार्य हेमचन्द्र, ३/७
७. "ङसेस् त्तो दो-दु-हि-हिंतो-लुकः"—प्राकृत व्याकरण—आचार्य हेमचन्द्र, ३/८
८. "भ्यसस् त्तो दो दु हि हिन्तो सुन्तो"—प्राकृत व्याकरण—आचार्य हेमचन्द्र ३/९

विभक्ति	एक वचन प्रत्यय	उवासग० प्रयोग	बहुवचन प्रत्यय	उवासग० प्रयोग
षष्ठी	स्स[1]	दिसिव्वयस्स (उवा० सू० ५०)		
सप्तमी	सि	समयंसि (उवा० सू० १५१)	सु	कारणेसु (उवा० सू० ५)
	ए[2]	देवे (उवा० सू० १५१)		
		इकारान्त, उकारान्त पुल्लिग शब्द		
प्रथमा	दीर्घ[3]	गाहावई (उवा० सू० २३२)		
	प्रत्यलोप	जियसत्तु (उवा० सू० २६९)		
तृतीया	णा[4]	वाहिणा (उवा० सू० २५५)	हि[5]	हेऊहि (उवा० सू० २१९)
चतुर्थी, षष्ठी	स्स	गाहावइस्स (उवा० सू० ६)	णं	बहूणं (उवा० सू० ५)
		पुल्लिग सर्वनाम शब्द		
प्रथमा	ए	तुमे (उवा० सू० १४६)	ए[6]	तुब्भे (उवा० सू० ९)
		क (उवा० सू० २)		
द्वितीया	(.) अनुस्वार	तं (उवा० सू० १०)		
तृतीया	एणं	तेणं (उवा० सू० २)		
चतुर्थी, षष्ठी	स्स[7]	तस्स (उवा० सू० ६)		
सप्तमी	सिं[8]	तेसिं सव्वेसिं (उवा० सू० ११)		

१. "ङसः स्सः"—प्राकृत व्याकरण—आचार्य हेमचन्द्र, ३/१०
२. "डे म्मि डेः"—प्राकृत व्याकरण—आचार्य हेमचन्द्र, ३/११
३. "अक्लीबे सौ"—प्राकृत व्याकरण—आचार्य हेमचन्द्र, ३/१९
४. "टो णा"—प्राकृत व्याकरण—आचार्य हेमचन्द्र, ३/२४
५. "इदुतो दीर्घः"—प्राकृत व्याकरण—आचार्य हेमचन्द्र, ३/१६
६. "अतः सर्वादि र्डे र्जसः"—प्राकृत व्याकरण—आचार्य हेमचन्द्र, ३/५८
७. "कियत्तदभ्योङसः"—प्राकृत व्याकरण—आचार्य हेमचन्द्र, ३/६३
८. "ङेः स्सिं-म्मि-त्थाः"—प्राकृत व्याकरण—आचार्य हेमचन्द्र ३/५९

विभक्ति	एक वचन प्रत्यय	उवासग० प्रयोग	बहुवचन प्रत्यय	उवासग० प्रयोग
		आकारान्त स्त्रीलिंग शब्द		
प्रथमा	आ	भारीया (उवा० सू० ६५)	ओ[1]	भारीयाओ (उवा० सू० २३५)
द्वितीया	(.) अनुस्वार	सुरं (उवा० सू० २४०)		
तृतीया	ए[2]	कहाए (उवा० सू० १०)	हिं	भारियाहिं (उवा० सू० २३५)
षष्ठी	ए	दोणियाए (उवा० सू० २३५)		
		इकारान्त उकारान्त स्त्रीलिंग शब्द		
प्रथमा			ओ	कोडिओ (उवा० सू० १६३)
द्वितीया	(.) अनुस्वार	जोणिं (उवा० सू० ११)		
षष्ठी	ए	सत्थवाहीए (उवा० सू० १४७)		
सप्तमी	ए	जोणिए (उवा० सू० ११)	सु	जोणिएसु (उवा०सू० ११)
		ईकारान्त ऊकारान्त स्त्रीलिंग शब्द		
प्रथमा	प्रत्ययलोप	नयवादी (उवा० सू० २१९)	ओ	हिरण्णकीडिओ (उवा० सू० २३१)
		पभू (उवा० सू० २१९)		
द्वितीया	(.) अनुस्वार	रेवइं (उवा० सू० २५५)		
तृतीया	ए	रेवईए (उवा० सू० २६१)		

१. "स्त्रियामुदोतौ"—प्राकृत व्याकरण—आचार्य हेमचन्द्र, ३/२७

२. "टा-ङस्-ङेरदादिदेद्वा तु ङसेः"—प्राकृत व्याकरण—आचार्य हेमचन्द्र, ३/२९

विभक्ति	एक वचन प्रत्यय	उवासग० प्रयोग	बहुवचन प्रयोग	उवासग० प्रयोग
चतुर्थी षष्ठी	ए	गाहावईणीए (उवा० सू० २४३)	णं	सवत्तीणं (उवा० सू० २३८)
सप्तमी	ए	पुढवीए (उवा० सू० २५३)		
सम्बोधन	प्रत्ययलोप	भो ! रेवई (उवा० सू० २५५)		
		नपुंसकलिंग शब्द		
प्रथमा	(.) अनुस्वार	सवंच्छराइं (उवा० सू० २४०)		
द्वितीया			णि	अतराणि, छिद्दाणि (उवा० सू० २३८)

बकाया रूप अकारान्त पुल्लिग की तरह चलते हैं ।

इन शब्द रूपों के अलावा भी उपासकदशांगसूत्र में कुछ नये प्रयोग देखने में आते हैं, जैसे—

१. द्वितीया बहुवचन में स्वतन्त्र 'ए' का प्रयोग पाया जाता है। यथा—

मणुस्सए । उवा० सू० ६।

२. षष्ठी के स्थान पर सप्तमी का प्रयोग हुआ है। यथा—

हत्थेसु । उवा० सू० ८७।

३. 'योनि' शब्द स्त्रीलिंग में 'ए' प्रत्यय लगने पर प्रायः ह्रस्व का दीर्घ हो जाता है, परन्तु यहां ह्रस्व ही रहा है। यथा—

जोणिए । उवा० सू० ११७।

४. स्त्रीलिंग में 'ए' प्रत्यय होने पर दीर्घ की प्रवृत्ति इस प्रकार है। यथा—

वाराणसीए, नयरीए । उवा० सू० १२५।

५. पंचमी के स्थान पर सप्तमी का प्रयोग भी हुआ है। यथा—

अभीए । उवा० सू० १०६।

६. ऐसे शब्दों के भी प्रयोग सम्मिलित हैं जिनके नये प्रयोग प्राप्त होते हैं। यथा—

कल्लाकल्लि = आजकल । उवा० सू० २४२।
आढाइ = आदर । उवा० सू० २४२।

७. कहीं-कहीं पर सप्तमी के स्थान पर तृतीया का प्रयोग हुआ है।[1] यथा—

तेणं कालेणं तेणं समएणं । उवा० सू० १।

८. उपासकदशांग में कृत प्रत्ययान्त शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। यथा—

पडिपुच्छणिज्जे । उवा० सू० ५।

---

१. "द्वितीया-तृतीययोः सप्तमी"—प्राकृत व्याकरण—आचार्य हेमचन्द्र, ३/१३५

धातु रूपं—

पुरुष	एक वचन प्रत्यय	उवासग० प्रयोग	बहुवचन प्रत्यय	उवासग० प्रयोग
		वर्तमान काल		
प्रथम पुरुष	ई[1]	विहरइ (उवा० सू० २)	ति[2]	भवन्ति (उवा० सू० ११)
	ए	अपराभूए (उवा० सू० ३, ८)		
मध्यम पुरुष	सि[3]	विहरसि (उवा० सू० ११६)	ह[4]	करेह (उवा० सू० २००)
उत्तम पुरुष	मि[5]	पासामि (उवा० सू० ८२)		
	एमि	करेमि (उवा० सू० ८८)		
		भविष्य काल		
प्रथम पुरुष	स्सइ[6]	हव्वमागच्छिस्सइ (उवा० सू० १८८)		
	हिइ	सिज्झिहिइ (उवा० सू० २३०)		

१. "त्यादिनामाद्यत्रयस्याद्यस्यंचेचौ"—प्राकृत व्याकरण—आचार्य हेमचन्द्र, ३/१३९
२. "बहुष्वाद्यस्य न्ति, न्ते इरे–" वही, ३/१४२
३. "द्वितीयस्स सि से"—वही, ३/१४०
४. "मध्यमस्येत्था-हचौ"—वही, ३/१४३
५. "तृतीयस्य मिः"—वही, ३/१४१
६. "भविष्यति हिरादिः"—वही, ३/१६६

पुरुष	एक वचन प्रत्यय	उवासग० प्रयोग	बहुवचन प्रत्यय	उवासग० प्रयोग
		आज्ञा		
मध्यम पुरुष	हि	वंदाहि (उवा० सू० ५८)	ह	पच्चप्पिणह (उवा० सू० ५९)
			एह	उवणेह (उवा० सू० २४२)
			ह	गच्छह (उवा० सू० २२०)
कर्मणी प्रयोग—		वर्तमान काल		
मध्यम पुरुष	इज्ज + सि	ववरोविज्जसि (उवा० सू० १२७)		
		भविष्य काल		
उत्तम पुरुष	ज्जि + स्सामि	पडिवज्जिसामि (उवा० सू० २१०)		
		आज्ञा		
मध्यम पुरुष	इज्जा + हि	पडिवज्जाहि (उवा० सू० २६२)		

अनियमित भूतकालिक क्रिया का भी प्रयोग पाया जाता है यथा—गओ (उवा० सू० ११)

कृदन्त प्रयोग

१. वर्तमान कृदन्त में 'न्त' व 'माण' प्रत्यय लगकर इस प्रकार रूप बनते हैं[1]—

न्त	=	वइकन्ता	(उवा० सू० २४५)
माण	=	भावेमाणे	(उवा० सू० २)

२. सम्बन्ध कृदन्त में 'इत्ता' व 'एत्ता' प्रत्यय लगकर रूप बनते हैं। यथा—

इत्ता	=	संपेहित्ता	(उवा० सू० १०)
एत्ता	=	करेत्ता	(उवा० सू० २)

३. अनियमित सम्बन्ध कृदन्तों का भी प्रयोग मिलता है। यथा—

सोच्चानिसम्म (उवा० सू० ११)

४. अनियमित भूतकालिक कृदन्त का भी प्रयोग प्राप्त होता है। यथा—

वण्णओ (उवा० सू० ७)

संधि विचार

१. गुण संधि — गुणोववेया (उवा० सू० ६)

२. स्वरलोप संधि— राईसर = राई + इसर (उवा० सू० १२५)

समास पद—

उपासकदशांगसूत्र में लम्बे-लम्बे समासपद प्राप्त होते हैं। यथा—

"सिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वावाहमपुणरावत्तयं"

(उवा० सू० ९)

●

१. "न्त-माणो"—प्राकृत व्याकरण—आचार्य हेमचन्द्र, ३/१८०

पंचम अध्याय

श्रावकाचार

श्रावक साधना की पूर्व भूमिका

अर्द्धमागधी आगम ग्रन्थों में मुनि धर्म एवं गृहस्थ धर्म दोनों का विस्तार से वर्णन हुआ है। जिसके सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने प्रकाश डाला है। पं० दलसुख भाई मालवणिया एवं देवेन्द्रमुनि शास्त्री ने आगम ग्रन्थों में वर्णित जैन दर्शन एवं आचार की विशद व्याख्या की है, उसी प्रसंग में 'उपासक' शब्द का अर्थ स्पष्ट किया गया है :—

जैन आगमों में उपासक शब्द—

आचारांगसूत्र मूलतः श्रमण जीवन को प्रतिपादित करने वाला ग्रन्थ है, अतः उसमें उपासक या श्रावक शब्द देखने को नहीं मिलता है।

सूत्रकृतांगसूत्र में 'उपासक' शब्द की जगह 'समणोपासक' 'अगारिक' और 'श्रावक' शब्द प्रयुक्त है।[1]

स्थानांगसूत्र में 'अगार' एवं 'श्रमणोपासक' शब्द का प्रयोग उपासक के रूप में हुआ है।[2]

---

१. क. "से णं लेवे णामं गाहावई समणोवासए यावि होत्था"

—सूत्रकृतांगसूत्र (सुत्तागमे)), सूत्र २

ख. "णो खलु वयं संचाएमो मुण्डा भवित्ता अगारामो अणगारियं पव्वइत्तए। सावयं ण्हं अणुपुव्वेणं सुत्तस्स लिसिस्सामो"

—सूत्रकृतांगसूत्र (सुत्तागमे), सूत्र ८

२. क. "चरित्तधम्मे दुविहे अगारचरित्तधम्मे चेव अणगार चरित्त धम्मे"

—ठाणं (सुत्तागमे), २/१/१८८

ख. "चत्तारि समणोवासगा पण्णत्ता तंजहा—"

—ठाणं (सुत्तागमे), ४/३/४०६

समवायांगसूत्र में श्रावकों को 'श्रमणभूत' शब्द से सम्बोधित किया है। यहीं पर 'उपासक' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है जहाँ ग्यारह प्रतिमाओं का उल्लेख किया गया है।[१]

भगवतीसूत्र में गृहस्थ श्रावकों के लिए 'सागार' एवं 'श्रमणोपासक' शब्द प्रयुक्त है।[२] कहीं-कहीं पर 'उपासक' और 'श्रावक' शब्द भी प्राप्त होता है।[३]

ज्ञाताधर्मकथा में 'श्रमणोपासक' शब्द ही अधिक प्रयुक्त हुआ है।[४] किन्तु एक स्थान पर गृहस्थ के लिए अगार शब्द का प्रयोग हुआ है, जहाँ श्रावक के विनय को अगार विनय कहा गया है।[५]

उपासकदशांगसूत्र गृहस्थ धर्म का प्रतिपादन करने वाला प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में गृहस्थ धर्म के लिए गिहिधम्म, सावयधम्म, अगार-धम्म, उवासगधम्म, आदि अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है। इस तरह ग्रन्थ में उपासक, श्रमणोपासक, गिहि, अगार, सावय ये शब्द गृहस्थ के लिए प्रयुक्त हुए हैं। यथा—

---

१. क. "एक्कारस उवासग पडिमाओ पण्णत्ता तंजहा—दंसणसावए....."
—समवाए (सुत्तागमे), पृष्ठ, ३२४

ख. "समणभूए आविभवइ समणाउसो"
—समवाए (सुत्तागमे) पृष्ठ, ३२४

२. क. "समणोवासगस्स णं भंते सामाइय कडस्स समणोवासए"
—ठाणं (सुत्तागमे), ७/१ पृष्ठ, ५०९

ख. "गोयमा दसविहे पण्णत्ते तंजहा—सागारमणागरं"
—ठाणं (सुत्तागमे) ७/२, पृष्ठ ५१३

३. "सोच्चा णं केवलिस्स वा केवलिसावगस्स वा केवलिसावियाए वा केवलि-उवासगस्स वाकेवलिउवासियाए वा
—भगवई (अंगसुत्ताणि, भाग २), ५/९६

४. "तओ णं अहं देवाणुप्पिआणं अंतिए पच्चाणुव्वइयं जाव समणोवासए
—ज्ञाताधर्मकथा-भारिल्ल, शोभाचन्द्र, अध्याय-५, पृष्ठ १९०.

५. "से वि य विणए दुविहे पण्णत्ते तंजहा—अगार विणय अणगार विणय"
—ज्ञाताधर्मकथा-भारिल्ल, शोभाचन्द्र, अध्याय-५, पृष्ठ १९३.

(क) "तए णं से आणंदे समणोवासए उवासग-पडिमाओ उवसंपज्जिताणं विरहइ"[१]

(ख) "दुवालसविहिं गिहि-धम्मं पडिवज्जिस्सामि"[२]

(ग) "तमेव धम्मं दुविहं आइक्खइ–अगारधम्मं, अणगारधम्मं च"[३]

(घ) "जहा आणंदो तहा णिग्गओ तहेव सावय-धम्मं पडिवज्जइ"[४]

अन्तकृत्दशांगसूत्र में सुदर्शन श्रेष्ठी की कथा के प्रसंग में श्रमणोपासक शब्द का प्रयोग हुआ है।[५]

विपाकसूत्र व उत्तराध्ययनसूत्र में क्रमशः श्रमणोपासक शब्द का उल्लेख है।[६]

शौरसेनी आगम ग्रन्थों में आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्रपाहुड ग्रन्थ में श्रावकों के लिए 'सागार' शब्द का प्रयोग किया है। इसके बाद रयणसार में 'श्रावक' शब्द का उल्लेख मिलता है।[७]

सागारधर्मामृत में पं० आशाधर ने श्रावक के लक्षण बतलाते हुए कहा है कि पंच परमेष्ठी का भक्त, प्रधानता से दान और पूजन करने वाला, भेद विज्ञान रूपी अमृत को पीने का इच्छुक तथा मूल गुण और उत्तरगुणों को पालन करने वाला श्रावक कहलाता है।[८]

---

१. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, १/७०
२. वही, १/१२
३. वही, १, पृष्ठ २०
४. वही, २ पृष्ठ ८५
५. "से मोग्गर पाणी जक्खे सुदंसणं समणोवासयं अदूरसामंतेणं वीईवयमाण"
—अन्तगडदसाओ (सुत्तागमे), वर्ग ६, अध्याय ३, पृष्ठ ११९७
६. "उवासगाण पडिमासु भिक्खुण पडिमासु य
जे भिक्खु जयइ णिच्चसेन अच्छइ मण्डले"
—उत्तराध्ययनसूत्र-मुनि पुण्यविजय, सूत्र ३१,११
७. "दुविह संजमचरणं सायारं तह हवे णिरायारं"
—चारित्रपाहुड-कुन्दकुन्द, गाथा २२
८. सागारधर्मामृत—पं० आशाधर, १/१५

वसुनन्दि-श्रावकाचार एवं उपासकाध्ययन में भी श्रावक और उपासक इन शब्दों का वहुविध प्रयोग हुआ है।[1]

सावयधम्म दोहा में श्रावक के स्वरूप को विस्तार से प्रतिपादित किया है। इस तरह अन्य श्रावकाचार ग्रन्थों में भी उपासक एवं श्रावक शब्दों का प्रयोग उपलब्ध है। किन्तु प्राचीन ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित गृहस्थ धर्म का ही आगे के ग्रन्थकारों ने विस्तार किया है। तत्त्वार्थसूत्र में श्रावक के लिए 'अगारी' शब्द का प्रयोग हुआ है।[2]

इन शब्दों के प्रयोगों के विश्लेषण से उपासक के स्वरूप के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। शाब्दिक दृष्टि से विचार करें तो 'उपासक' का अर्थ है—समीप वैठने वाला—

"उपसमीपे-आस्ते-इत्युपासके"

अर्थात् जो श्रमणों के सान्निध्य में वैठता है, सद्ज्ञान और व्रत स्वीकार करता है और स्वयं उपासना के पथ पर आगे वढ़ता, वह श्रमणोपासक है।

श्रावक प्रज्ञप्ति में कहा है कि श्रावक शब्द 'श्रु' धातु से वना है, जिसका अर्थ है—सुनने वाला अर्थात् जो गुरुजनों से धर्म श्रवण करता है वह श्रावक है। प्राचीन ग्रन्थों में इसके स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि जो सम्यक्त्वी एवं अणुव्रती प्रतिदिन साधुओं से सम्यक् दर्शन आदि समाचारी को सुनता है, वह निश्चित रूप से परमश्रावक है।[3]

१५वीं शताब्दी के आचार्य राजशेखरसूरि ने अपने ग्रन्थ 'श्राद्धविधि' में श्रावक शब्द का चिन्तन करते हुए कहा है कि जो दान, शील, तप, भाव की आराधना करता हुआ शुभयोगों से आठ प्रकार के कर्मों की निर्जरा करता है, श्रमणों के समीप समाचारी का श्रवण कर उसी प्रकार का आचरण करने का प्रयत्न करता है, वह श्रावक है।

---

१. "सम्मत्त विसुद्धमई सो दंसण सावयो भणिओ"
—वसुनन्दि-श्रावकाचार, सूत्र २०५

२. "अणुव्रतोऽगारी", —तत्त्वार्थसूत्र-संघवी, सुखलाल, ७/१५

३. "सम्मत्त दंसणाइं पइ दिअहं जइजणा सुणेइ य
सामायारी परम जो खलु तं सावयं विंति"
—श्रावकप्रज्ञप्ति, गाथा २

अभिधान राजेन्द्र कोष में श्रावक शब्द के ३ पद हैं। 'श्रा' शब्द तत्वार्थ श्रद्धान की सूचना करता है, 'व' शब्द सप्त धर्म क्षेत्रों में बीज बोने की प्रेरणा करता है, 'क' शब्द क्लिष्ट कर्म महापापों को दूर करने का संकेत करता है, इस प्रकार कर्मधारय समास होने पर श्रावक शब्द बना है।[1]

अणुव्रती आदि पर्यायवाची

उपासक या श्रावक के लिए अणुव्रतों का पालन करना आवश्यक है, इसलिए वह अणुव्रती कहलाता है, किन्तु पूर्ण रूप से व्रतों का पालन नहीं करने पर वह व्रताव्रती, विरताविरत, देशविरत, देशसंयमी और संयमा-संयमी भी कहलाता है। घर में रहने के कारण वह सागारी भी है और गृहस्थ धर्म का पालन करने के कारण गृहस्थधर्मी भी कहलाता है तथा श्रद्धा की प्रमुखता होने के कारण 'श्राद्ध' भी कहलाता है।

वसुनन्दि-श्रावकाचार में इसे गृहस्थ, सागार, गेही, गृही और गृहमेधी आदि नामों से भी पुकारा जाता है।[2]

पं० हीरालाल शास्त्री ने वसुनन्दि-श्रावकाचार की भूमिका में उपासक शब्द का अर्थ उपासना करने वाला किया है अर्थात् जो अपने अभीष्ट देव, गुरु, धर्म की उपासना करता है, उसे उपासक कहते हैं।[3]

इस प्रकार उपासक या श्रावक शब्द के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न प्रसंगों से तो पर्याप्त जानकारी मिलती ही है, किन्तु विचारणीय यह है कि मूल आगम ग्रन्थों में उपासक या श्रावक शब्द की परिभाषा के रूप में कोई प्राकृत गाथा या प्राकृत गद्यांश देखने में नहीं आया है। केवल पञ्चास्ति-काय नामक ग्रन्थ की एक गाथा पं० हीरालाल शास्त्री ने अपनी भूमिका में

---

१. "श्रन्ति पचन्ति तत्त्वार्थश्रद्धानं निष्ठां नयन्तीति श्राः,
तथा वपन्ति गुण वत्सप्तक्षेत्रेषु धनबीजानि निक्षिपन्तीति वाः
तथा किरन्ति क्लिष्ट कर्मरजो विक्षिपन्ती ति काः
तत कर्मधारये श्रावका इति भवति"

—अभिधान राजेन्द्र कोष–'सावय' शब्द

२. वसुनन्दि-श्रावकाचार—प्रस्तावना, पृष्ठ २१

३. वही, पृष्ठ २०

उद्धृत की है, जिसमें कहा गया है कि जो गुरुजनों से परलोकहित को करने वाले और तीव्र कर्मों को नष्ट करने वाले जिनागमों को सावधानी-पूर्वक सुनता है, वही श्रावक है।[1]

इसके अतिरिक्त प्रतिमाओं के वर्णन करते समय वसुनन्दिश्रावकाचार में दार्शनिक और व्रतिक श्रावक का स्वरूप प्राकृत गाथाओं में कहा है।[2]

पं० हीरालाल शास्त्री ने ही श्रावक के स्वरूप के सम्बन्ध में एक श्लोक भूमिका में और उद्धृत किया है जिसमें कहा गया है कि जो श्रद्धालु होकर जैन शासन को सुने, दीनजनों में अर्थ का वपन करे, सम्यक्दर्शन को वरण करे, सुकृत और पुण्य का कार्य करे, संयम का आचरण करे उसे विचक्षण जन श्रावक कहते हैं।[3]

इन उद्धरणों से उपासक या श्रावक के स्वरूप का तो निर्धारण होता है कि जो बारह व्रतों का पालन करता है, देव, गुरु, धर्म की उपासना करता है तथा आत्मकल्याण के मार्ग में लगता है, वह श्रावक है, किन्तु इस परिभाषा का आगमों में मूल स्रोत क्या है, यह ज्ञात नहीं होता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में मूलतः आगम मुनि-धर्म को ही प्रति-पादित करने वाले थे, किन्तु बाद में गृहस्थ धर्म सम्बन्धी सामग्री भी संकलित की गयी है। जिस प्रकार मुनि, श्रमण, अणगार, साधु आदि की परिभाषाएँ आगम ग्रन्थों में प्राप्त हैं। इस प्रकार उपासक या श्रावक की

---

१. "परलोयहियं सम्मं जो जिणवयणं सुणेइ उवजुत्तो।
अइतिव्व कम्मविगया सुक्कोसो सावगो एत्थ॥"
—पंचास्तिकाय, १

२. पंचुंवरसहियाइं परिहरेइ इय जो सत्त विसणाइं।
समत्तविसुद्धमई सो दंसणसावयो भणिओ॥
एवं दंसण सावयठाणं पढमं समासओ भणियं।
वयसावयगुणठाणं एत्तो विदियं पवक्खामि॥
—वसुनन्दिश्रावकाचार, गाथा २०५-२०६

३. "श्रद्धालुतां श्राति श्रृणोति शासनं दीने वपेदाशु वृणोति दर्शनम्
कृतत्वपुण्यानि करोति संयमं तं श्रावकं प्राहुरमी विचक्षणाः"
—वसुनन्दिश्रावकाचार–प्रस्तावना, २०

स्वतन्त्र परिभाषाओं का प्रायः अभाव है। स्वयं उपासकदशांग में भी उपासक किसे कहते है इस प्रकार की कोई परिभाषा नहीं है, फिर भी उपासक के कार्यों और उसकी जीवन-पद्धति के विवरण अवश्य प्राप्त होते हैं, जिनका मूल्यांकन आगे किया जा रहा है।

श्रावकाचार का स्वरूप

जैन साहित्य में श्रमण आचार को प्रधानता दी गयी है, परन्तु आम लोगों के लिये, जो इन व्रतों को पूर्णतया पालन नहीं कर पाते हैं, मध्यम मार्ग के रूप में श्रावक-आचार का भी कथन हमारे पूर्वाचार्यों व उत्तरवर्ती मनीषियों ने किया है। श्रावक-आचार के मूल रूप से आठ मूलगुण, बारह अणुव्रत, पैंतीस गुण, ग्यारह प्रतिमाएँ आदि मुख्य हैं, जिन्हें क्रमिक रूप से यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है :—

आगमों में श्रावकाचार—

अर्धमागधी आगम साहित्य के स्थानांगसूत्र में आगार धर्म के अन्तर्गत श्रावक के तीन मनोरथों का चिन्तन हुआ है।[१] इसी ग्रन्थ में श्रावकों के ५ अणुव्रतों का भी नामोल्लेख हुआ है।[२] समवायांगसूत्र में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन प्राप्त होता है।[३] उपासकदशांग, जो श्रावकाचार का मूल ग्रन्थ है इसमें आनन्द श्रावक भगवान महावीर से पाँच अणुव्रत, और सात शिक्षाव्रत ग्रहण करता है, बाद में ग्यारह प्रतिमाओं को धारण कर सल्लेखना स्वीकार करता है।[४] विपाकसूत्र में सुबाहुकुमार द्वारा श्रावक के बारह व्रत ग्रहण करने का वर्णन है।[५] दशाश्रुतस्कन्ध में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन है।[६] आवश्यकसूत्र में षट् आवश्यक, बारह व्रतों के अतिचारों का वर्णन है।[७]

---

१. स्थानांगसूत्र, ३/४/२१०
२. स्थानांगसूत्र, ५/१/३८९
३. समवायांगसूत्र, ११/५
४. उवासगदसाओ, १/१४-७५
५. विपाकसूत्र, २/१-१०
६. दशाश्रुतस्कन्ध, ६/१-२
७. आवश्यकसूत्र-मुनि पुण्यविजय, आश्वास ६

अन्य ग्रन्थों में श्रावकाचार—

आगमों के परवर्ती मूल ग्रन्थों में आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र में श्रावक के बारह व्रतों का वर्णन है जिनमें पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रतों का उल्लेख है। इसके साथ ही इनके अतिचारों का भी वर्णन है।[1] आचार्य हरिभद्र ने धर्म-बिन्दु-प्रकरण में जैन मार्गानुगामियों के पैंतीस गुणों का सर्वप्रथम वर्णन किया है। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रतों के साथ-साथ श्रावक के दैनिक षट्कर्म और तीन मनोरथों का भी वर्णन किया है।[2] सुविहित आचार्य जिनेश्वर ने षट्स्थानप्रकरण में षट्कर्मों का उल्लेख किया है। आचार्य जवाहर ने गृहस्थ धर्म के तीन खण्डों में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रतों के साथ षट्आवश्यकों का वर्णन किया है।[3] महासती उज्ज्वल कुंवर ने श्रावक धर्म में श्रावक के बारह व्रतों का वर्णन किया है।[4]

बारह व्रत—

पाँच अणुव्रतों के सम्बन्ध में कहीं भी मतभेद नहीं है। उनके नाम भेद अवश्य प्राप्त होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने चारित्रप्राभृत में पाँचवें अणुव्रत का नाम 'परिग्गहारंभ परिमाण' रखा है एवं चतुर्थ अणुव्रत का नाम 'परपिम्म परिहार' जिसका अर्थ परस्त्रीत्याग है तथा प्रथम अणुव्रत का नाम 'स्थूलत्रसकायवधपरिहार' रखा है।[5] आचार्य समन्तभद्र ने रत्न-करण्डकश्रावकाचार' में चौथे अणुव्रत का नाम 'परदारनिवृत्ति' और 'स्वदार सन्तोष' रखा है, एवं पाँचवें अणुव्रत का नाम 'परिग्रह परिमाण' के साथ 'इच्छापरिमाण' भी रखा है।[6] आचार्य रविषेण ने चौथे व्रत का नाम

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ७

२. क. योगशास्त्र, २   ख. योगशास्त्र, ३

३. क. गृहस्थधर्म-आचार्य जवाहर, ३१, ३२ वीं किरण
   ख. वही, ३३ वीं किरण, ३/९-८५
   ग. वही, ३/८९–२०९
   घ. वही, ३/२१०-२७०

४. महासती उज्ज्वलकुंवर—श्रावकधर्म

५. चारित्रसार, गाथा २३

६. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक १३, १५

'परदारगमन विरति' एवं पांचवें का 'अनन्तगर्द्धाविरति' दिया है।[1] आदिपुराण में चौथे व्रत का 'परस्त्रीसेवननिवृत्ति' एवं पांचवें का नाम 'तृष्णाप्रकर्षनिवृत्ति' रखा है।[2]

गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों के भी नामों एवं संख्याओं में भेद पाये जाते हैं। उपभोगपरिभोग, दिशा परिमाण व अनर्थदण्ड विरमण तीन गुणव्रत एवं सामायिक देशावकाशिक, प्रोषध और अतिथिसंविभाग चार शिक्षाव्रत हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्रप्राभृत तथा रविषेण ने पद्मचरित में दिशाविदिशा प्रमाण, अनर्थदण्डत्याग एवं भोगोपभोग परिमाण ये तीन गुणव्रत व सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिपूजा व सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत बतलाये हैं।[3] प्राकृत भावसंग्रह व सावयधम्मदोहा में भी यही क्रम है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में गुणव्रत तथा शिक्षाव्रत ये भेद नहीं करके सात शीलव्रत बतलाये हैं, यथा—दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्ड, सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग परिभोग परिमाण एवं अतिथिसंविभाग। सल्लेखना को इनमें सम्मिलित नहीं किया गया है।[4] आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, सोमदेव ने उपासकाध्ययन, अमितगति उपासकाचार, पद्मनन्दि पंचविंशतिका और लाटी संहिता में भी उपर्युक्त सात शील ही बताये हैं। रत्नकरण्डकश्रावकाचार में आचार्य वसुनन्दि ने दिग्व्रत, अनर्थदण्ड एवं भोगोपभोगपरिमाणव्रत, ये तीन गुणव्रत एवं देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत बतलाये हैं।[5] हरिवंशपुराण में गुणव्रत तो तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार ही हैं परन्तु शिक्षाव्रत में भोगोपभोगपरिमाण के स्थान पर सल्लेखना को जोड़ा है।[6] आदिपुराण में दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्ड को गुणव्रत तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग व सल्लेखना को शिक्षाव्रत कहा

---

१. पद्मचरित्त, १४/१८४-१८५
२. आदिपुराण, १०/६३
३. क. चरित्रप्राभृत, गाथा २४-२५
   ख. पद्मचरित, १४/१९८-१९९
४. तत्त्वार्थसूत्र, ७/२१
५. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ६७, ९१
६. हरिवंशपुराण, १८/४६-४७

है।[1] स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा और सागारधर्मामृत में भी रत्नकरण्डक-श्रावकाचार का क्रम ही अपनाया गया है।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन साहित्य में प्राचीन समय से ही श्रावकाचार का निरूपण प्राप्त होता है। देश-काल की आवश्यकतानुसार श्रावकाचार में क्रमशः विकास भी हुआ है। किन्तु उसके मूल में मनुष्य के आचरण को संयमित, धर्ममय एवं नैतिक बनाने की भावना रही है। आगे श्रावकाचार के विशिष्ट मूल्यांकन से जैन धर्म में साधना का स्वरूप अधिक स्पष्ट हो सकेगा।

अणुव्रत शब्द का अर्थ, स्वरूप एवं वर्गीकरण

श्रावक-साधना का मूल उसके व्रतों पर निर्भर है। इनके अभाव में श्रावकसाधना अर्थहीन है। इसीलिए जैन धर्म में श्रावक के आचार धर्म को प्राथमिकता दी गयी है। श्रावक का यह आचार धर्म द्वादश व्रतों के रूप में निरूपित है। इन व्रतों में सर्वप्रथम अणुव्रत आते हैं :—

अणुव्रत का स्वरूप—

श्रावक जिन व्रतों का यथाशक्ति परिपालन करता है वे अणुव्रत कहलाते हैं। यह 'अणुव्रत' शब्द 'अणु + व्रत' दो शब्दों के योग से बना है। 'अणु' का अर्थ है—अल्प या लघु और 'व्रत' का अर्थ नियम से है। अर्थात् मन और वचन की एकता द्वारा सत्कर्म की ओर प्रवृत्त होने के जो लघु नियम हैं, वे ही अणुव्रत हैं। यद्यपि अणु का शाब्दिक अर्थ छोटा भी किया जा सकता है, परन्तु वास्तव में व्रत छोटा या बड़ा नहीं होता है। व्रत को अखण्ड ग्रहण नहीं कर पाने पर वह अपूर्ण 'अणु' होता है और इस अपूर्ण से पूर्णता की ओर प्रयास ही श्रावक का 'लक्ष्य' होता है। पूर्णता की सीमा को प्राप्त करना महाव्रत होता है जो जाति, देश, काल आदि बन्धनों से ऊपर होता है। इसी महाव्रत का लघु संस्करण अणुव्रत है। आत्मबोध व आध्यात्मिक शक्ति की अपेक्षा अणुव्रतों में भी बनी रहती है।

---

१. आदिपुराण, १०/६५-६६
२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ३४१-३६८

उपासकदशांगसूत्र श्रावक-आचार का प्रतिपादन करने वाला प्राचीन आगमों का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इसके प्रथम अध्ययन में भगवान महावीर से धर्मोपदेश श्रवण करने के पश्चात् आनन्द श्रावक ने कहा कि मैं अन्य राजा-महाराजाओं की तरह संसार-त्याग कर मुनिव्रत ग्रहण करने में असमर्थ हूँ, परन्तु मैं आपके पास पाँच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत मूलक बारह प्रकार का गृहस्थ धर्म स्वीकार करना चाहता हूँ।[1] इस कथन के उपरान्त इस ग्रन्थ में प्रत्येक अणुव्रत का स्वरूप बताया गया है, जिसका वर्णन आगे किया जा रहा है:—

भगवतीआराधना में प्राणवध, मृषावाद, चोरी, परदारागमन तथा परिग्रह के स्थूल त्याग को अणुव्रत कहा है।[2] रत्नकरण्डकश्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र ने हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच स्थूल पापों के त्याग को अणुव्रत कहा है।[3] आचार्य उमास्वाति आदि अनेक विद्वानों ने हिंसादि पांच पापों के एक देश त्याग को अणुव्रत कहा है।[4] श्रावकप्रज्ञप्ति में आचार्य हरिभद्रसूरि ने स्थूल प्राणीवधादि से विरत होने को अणुव्रत माना है।[5] महापुराण में आचार्य जिनसेन ने स्थूल हिंसादि दोषों से विरक्ति को अणुव्रत कहा है।[6] सागारधर्मामृत में पं०

---

१. पंचाणुव्वइयं सत्त सिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामी-
उवासगदशाओ, १/१२

२. पाणवध-मुसावादा-दत्तादान परदारगमणेहिं।
अपरिमिदिच्छादो वि अ अणुव्वयाइ विरमणाइं॥
—भगवतीआराधना, गाथा-२०८०

३. प्राणातिपातवितथ व्याहारस्तेय काम मूर्च्छाभ्यः।
स्थूलेभ्यः पापेभ्यः व्युपरमणमणुव्रतं भवति॥
—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ५२

४. क. तत्त्वार्थसूत्र, ७/१-२ ख. तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति, ७/२
ग. तत्त्वार्थवार्तिक, ७/२-२ ग. तत्त्वार्थभाष्य, ७/२
ङ. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ७/२ च. तत्त्वार्थश्रुतसागरीवृत्ति, ७/२
छ. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, १/१/!८८

५. थूल पाणि (ण) वहस्स (स्स) विरइ, दुविहो अ सो वहो होइ संकप्पारंभेहिं य वज्जइ, संकप्पओ विहिणा"—श्रावक प्रज्ञप्ति, १०७

६. महापुराण, ३९/४

आशाधर ने किसी गृह निरत श्रावक में अनुमोदना को छोड़ कर शेष छह भंगों के द्वारा स्थूल हिंसादि से निवृत होना अहिंसा आदि अणुव्रत कहा है।[1] योगशास्त्र में आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है कि—

विरतिं स्थूल हिंसादेर्द्विविध त्रिविधादिना।
अहिंसादीनि पञ्चाणुव्रतानि जगदुर्जिनाः॥

अर्थात् दो करण तीन योग आदि से स्थूल हिंसा आदि दोषों के त्याग को जिनेन्द्र देव ने अणुव्रत कहा है।[2]

इस प्रकार जैन आगमों से लेकर उत्तरवर्ती ग्रन्थों में अणुव्रतों के स्वरूप के सम्बन्ध में जो जानकारी प्राप्त होती है, उससे अणुव्रत का सामान्य लक्षण स्पष्ट हो जाता है।

शाब्दिक दृष्टि से अणुव्रत का अर्थ छोटा, लघु तथा अल्पव्रत किया जा सकता है किन्तु हिंसा आदि पापों का स्थूल त्याग (त्रस जीव सम्बन्धी त्याग) ही अणुव्रत की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म एवं परिग्रह का एक देश (अंश) त्याग, या यों कहें कि किसी भी पाप को दो करण तीन योग से त्यागना, अणुव्रत होता है। यहाँ दो करण से तात्पर्य न स्वयं करना न करवाना और तीन योग से तात्पर्य मन, वचन, काय से है।

अणुव्रतों की संख्या—

प्रायः सभी जैन ग्रन्थों में अणुव्रतों की संख्या पाँच कही गयी है। इनके नाम इस प्रकार हैं :—

१. अहिंसा अणुव्रत (प्राणवध का त्याग)
२. सत्याणुव्रत (मृषावाद का त्याग)
३. अस्तेयाणुव्रत (अदत्तादान का त्याग)
४. ब्रह्मचर्याणुव्रत (परदारागमन त्याग)
५. अपरिग्रह अणुव्रत (परिग्रह परिमाण)

इनके स्वरूप को कालक्रम एवं विकासक्रम की दृष्टि से इस प्रकार समझा जा सकता है।

---

१. सागारधर्मामृत, ४/५
२. योगशास्त्र, २/१८

विभिन्न अणुव्रत एवं अतिचार

अहिंसाणुव्रत—

अहिंसा अणुव्रत के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए आचार्यों ने पहले हिंसा के स्वरूप का वर्णन किया है। हिंसा के त्याग को मूल रूप से अहिंसा कहा जाता है। इस कारण पहले यह जानना जरूरी है कि हिंसा का वास्तविक स्वरूप क्या है ?

हिंसा का स्वरूप—

आचारांगसूत्र में हिंसा का स्वरूप बताते हुए कहा है कि प्रमाद व काम भोगों में जो आसक्ति होती है, वही हिंसा है।[१] उपासकदशांगसूत्र व आवश्यकसूत्र में प्राणातिपात को हिंसा कहा है।[२] प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा गया है कि प्रमाद व कषायवश किसी भी प्राणी के प्राणों को मन, वचन व काय से बाधा पहुँचाना हिंसा है।[३] तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वाति ने प्रमत्त योग से प्राणों का व्यपरोपण करने को हिंसा कहा है।[४] रत्नकरण्डक-श्रावकाचार में स्थूल प्राणघात को हिंसा मानकर इससे विरत होने को अहिंसा अणुव्रत कहा है।[५] पुरुषार्थसिद्धयुपाय में कषाय के वशीभूत होकर द्रव्य व भावरूप से प्राणों के घात को हिंसा कहा है।[६]

अतः सार रूप में यह कहा जा सकता है कि किसी के प्रति रागादि एवं कषाय-भावों का उत्पन्न होना हिंसा है। इन्हीं भावों के कारण किसी के प्राणों का घात होता है। अतः हिंसा केवल शरीरघात तक सीमित नहीं है, उसका सम्बन्ध मानसिक एवं भवनात्मक प्राणघात से भी है।

---

१. "एत्थसत्थं असमारम्भमाणस्स इच्चेते आरम्भा परिण्णाया भवन्ति"
—आचारांग, १/४/३६

२. क. तप्पढमाए थूलगं पाणाइवाय —उवासगदसाओ, १/१३
ख. थूलगं पाणाइवाय पच्चक्खाइ
—आवश्यकसूत्र, पहला अणुव्रत

३. प्रश्नव्याकरण-सूत्र, १/५/१

४. "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा"। —तत्त्वार्थसूत्र ७/१३

५. "प्राणातिपात स्थूलेभ्यः पापेभ्यो व्युपरमणमणुव्रत भवति"
—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, १/५२

६. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक ४३

हिंसा के प्रकार—

हिंसा के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए उसके विभिन्न प्रकारों पर भी दृष्टिपात करना जरूरी है। अगर वास्तविक रूप से देखें तो हिंसा हर तरह से हिंसा ही होती है, परन्तु विश्लेषणात्मक दृष्टि से इसके अनेक भेद भी किये जा सकते हैं :—

"संतिमे तउ आयाणा जेहिं कीरइ पावगं अभिकम्माय पेसाय, मणसा अणुजाणिया"

सूत्रकृतांगसूत्र में करना, करवाना व मन से अनुमोदन करना—ये तीन प्रकार की हिंसा बतलाई है।[1] उपासकदशांगसूत्र व दशवैकालिकसूत्र में भी कृत, कारित एवं अनुमोदित–तीन प्रकार की हिंसा बताई है। उपासकदशांगसूत्र में आनन्द श्रावक व्रतों को ग्रहण करते समय कृत और कारित हिंसा का त्याग करता है।[2] अमितगतिश्रावकाचार में हिंसा के १०८ प्रकार बताये गये हैं। वे लिखते हैं कि सरंभ, समारम्भ और आरम्भ रूप तीन प्रकार की हिंसा; मन, वचन, काय रूप तीन योगों से; कृत, कारित व अनुमोदनारूप तीन करण से; क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चार कषायों से निरन्तर होती रहती है। इनको परस्पर गुणा करने पर १०८ संख्या हो जाती है।[3] दर्शनसार में हिंसा के जान-बूझ कर हुई तथा अनजान में हुई—ऐसे दो भेद किये हैं। बाद में इन्हीं के उद्यमी, आरम्भी एवं विरोधी तीन भेद किये हैं।[4] आधुनिक आचारग्रंथों में हिंसा के चार भेदों का उल्लेख मिलता है, यहाँ संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी एवं विरोधी ये चार भेद किये हैं।[5]

---

१. सूत्रकृतांगसूत्र, १/२/२६

२. क. "तप्पढमाए थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खाइ जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि" उवासगदसाओ, १/१३

ख दशवैकालिकसूत्र, ६/१०

३. सरंभ समारम्भारम्भैर्योग कृतकारितानुमतैः।
सकषायैरम्भस्तैतरसा सम्पद्यते हिंसा॥—अमितगतिश्रावकाचार, ६/१२

४. सोगानी, के. सी., इथिकल डाक्ट्रीन आफ जैनिज्म, पृष्ठ ७७

५. क. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि–जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप, पृष्ठ २९७

ख. मुनि पुष्कर–श्रावक धर्म-दर्शन, पृष्ठ ११७

इस प्रकार हिंसा के स्वरूप तथा प्रकार की सही जानकारी प्राप्त कर, श्रावक उससे बचने का जो प्रयत्न करता है वही उसका अहिंसाणुव्रत है। उसके स्वरूप को कालक्रमानुसार इस प्रकार समझा जा सकता है :—

अहिंसा का स्वरूप—

विभिन्न आगम ग्रन्थों व उत्तरवर्ती साहित्य में अहिंसा अणुव्रत के सम्बन्ध में जो वर्णन प्राप्त होता है, उसे संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :—

स्थानांगसूत्र में अणुव्रतों के 'स्थूलप्राणातिपात, स्थूलमृषावाद, स्थूल-अदत्तादान, स्थूलमैथुन एवं स्थूलपरिग्रह का त्याग' ये पाँच भेद गिनाये हैं।[1] प्रश्नव्याकरणसूत्र में केवल सार रूप में अहिंसा आदि व्रतों के ऊपर प्रकाश डाला गया है। श्रावक-धर्म के प्रतिनिधि ग्रन्थ के रूप में उपासकदशांगसूत्र के प्रथम अध्याय में आनन्द श्रावक अहिंसा अणुव्रत को ग्रहण करता हुआ प्रतिज्ञा करता है :—

"थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खाइ, जावज्जीवाए
दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा"

अर्थात् मैं यावज्जीवन मन, वचन एवं शरीर से स्थूल प्राणातिपात न स्वयं करूँगा, न कराऊँगा।[2] आवश्यकसूत्र में भी कहा गया है कि श्रावक स्थूल प्राणातिपात का त्याग करता है। वह प्राणातिपात दो प्रकार का होता है—संकल्पजा तथा आरम्भज्जा। इसमें से श्रावक संकल्पी हिंसा का त्याग करता है, आरम्भी हिंसा का नहीं।[3] आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने

---

१. पंचाणुव्वया पण्णत्ता तंजहा—थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, थूलाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, थूलाओ मेहुणाओ वेरमणं, इच्छापरिमाणे ॥ —स्थानांगसूत्र, ५/१/२

२. उवासगदसाओ, १/१३

३. "थूलगं पाणाइवाइयं समणोवासओ पच्चक्खाई से पाणाइवाइए दुविहे पण्णत्ते तंजहा-संकप्पओ य आरंभओ। तत्थ समणोवासओ संकप्पओ जावज्जीवाए पच्चक्खाइ नो आरंभओ।"
—मुनि पुष्कर-श्रावक धर्मदर्शन, पृष्ठ ११० से उद्धृत

चारित्रपाहुड में एक ही गाथा में अणुव्रतों के स्वरूप का विश्लेषण कर दिया है। उन्होंने लिखा है कि स्थूल त्रसकाय का घात, स्थूल असत्य, स्थूल अदत्ता यानि विना दिया धन, परस्त्री का त्याग और परिग्रह तथा आरम्भ का परिमाण, पाँच अणुव्रत है।[1] रत्नकरण्डकश्रावकाचार में मन, वचन, काय इन तीनों योगों के संकल्प से कृत, कारित व अनुमोदना से जो त्रस जीवों को नहीं मारता है, उसे अहिंसा अणुव्रती कहा है।[2] स्वामी कार्तिकेय ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा, में जो अपने समान दूसरों को मानता है तथा दया सहित व्यवहार करता है, अपनी निन्दा एवं गर्हा से युक्त है, महान् आरम्भों का परिहार करता हुआ त्रस जीवों के घात को तीन करण तीन योगों से नहीं करता है उसे अहिंसा अणुव्रत का धारी कहा है।[3] पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय अहिंसा अणुव्रत के स्वरूप में आचार्य कुन्दकुन्द का अनुमोदन करता है।[4] उपासकाध्ययन में देवता के लिए, अतिथि के लिए, पितरों के लिए, मंत्र की सिद्धि के लिए, औषधि के लिए या भय से सव प्राणियों की हिंसा नहीं करना अहिंसाव्रत कहा है।[5] वसुनन्दि-श्रावकाचार में त्रस जीवों की घात एवं निष्कारण एकेन्द्रिय जीवों की भी घात न करने को अहिंसाव्रत कहा है।[6] सागारधर्मामृत में पं० आशाधर ने उपर्युक्त सभी का खुलासा करते हुए कहा है कि श्रावक अनुमोदना से विरत नहीं हो सकता है अतः वह तीन योग तथा दो करण से हिंसा का त्याग करता है।[7] यहीं पर सांकल्पिक हिंसा के त्याग का उपदेश देते हुए कहते हैं कि गृहवास आरम्भ के विना एवं आरम्भ हिंसा के बिना नहीं होता। इसलिए गृहवासी

---

१. थूले तसकायवहे थूले मोसे अदत्तथूले य।
परिहारो पर महिला परग्गहारंभ परिमाणं —चारित्रपाहुड, २५

२. सङ्कल्पात कृत कारित मननाद्योगत्रयस्य चरसत्वान्।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः॥
—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ५३

३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, श्लोक ३०-३१

४. पुरुपार्थसिद्धयुपाय, श्लोक ७५

५. उपासकाध्ययन, ७/३०५

६. वसुनन्दि-श्रावकाचार, श्लोक २०९

७. सागाराधर्मामृत, अध्याय ४, श्लोक ५

को "मैं मारता हूँ" इस प्रकार की संकल्पी हिंसा का त्याग कर देना चाहिए किन्तु खेती आजीविका करते हुए जो आरम्भिक हिंसा होती है, वह श्रावक के लिए दुस्त्यज है।[१] यहाँ सांकल्पिक हिंसा के त्याग को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि हिंसक प्राणियों की भी हिंसा नहीं करनी चाहिए क्योंकि इसमें अतिप्रसंग दोष आता है।

उपर्युक्त शास्त्रों और ग्रन्थों से यह स्पष्ट होता है कि गृही स्थूल रूप से या एक देश रूप से हिंसा का त्याग करे। शास्त्रीय दृष्टि से पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु एवं वनस्पति की हिंसा सूक्ष्म कही जाती है, एवं हलन-चलन करने वाले बेइन्द्रि, तेइन्द्रि, चउरिन्द्रि और पंचेन्द्रिय की हिंसा स्थूल कही गयी है। ये त्रसजीव कहे जाते हैं। इसके साथ-साथ जिन्हें अपने चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता है जिसकी चेतना सुसुप्त होती है, ऐसे जीवों की हिंसा से भी श्रावक विवेक युक्त होकर बचता है। यद्यपि गृहस्थावास में रहते हुए भोजनादि की समस्या का समाधान एवं पारिवारिक जिम्मेदारियों को उठाये रखने में सूक्ष्म हिंसा से बच पाना कठिन होता है, अतः वह अपने आपको त्रस हिंसा से अलग होने की प्रतिज्ञा में ही बांधता है।

एक और तथ्य यह है कि श्रावक स्थूल हिंसा में भी संकल्पी हिंसा का त्याग करता है। किसी को "मैं मारूँ" इस भावना से हिंसा करना संकल्पी हिंसा है। परन्तु गृहस्थावास में रहने के कारण, कभी मकान निर्माण के प्रसंग से, कभी खेत में हल जोतने के प्रसंग से, कभी सामाजिक व्यवस्था में किसी अनिष्टकारी को हटाने, राज्यादि कार्यो में चोर-डकैतों को दण्ड देने इत्यादि कार्यों में कई स्थूल जीवों की घात का प्रसंग बनने पर श्रावक स्थूल हिंसा के (आरम्भी हिंसा) त्याग कैसे निभा सकता है? इसलिए किसी की घात करने की इच्छा नहीं करते हुए भी दैनिक और व्यावहारिक कार्य करते हुए किसी प्राणी का वध हो जाय तो वह आरम्भी हिंसा कहलाती है, जिसे अहिंसाणुव्रती श्रावक को करनी पड़ती है।

अष्टमूलगुण—

अहिंसाणुव्रत के पालन के प्रसंग में हिंसा के विविध प्रकारों से बचने के लिए कुछ जैन आचार्यों ने अष्टमूलगुणों का भी उल्लेख किया है।

---

१. सागारधर्मामृत, अध्याय, ४, श्लोक, १२

आठ मूलगुणों का सर्वप्रथम उल्लेख स्वामी समन्तभद्राचार्य के रत्नकरण्डक-श्रावकाचार में प्राप्त होता है। उन्होंनें मद्य, मांस व मधु के त्याग के साथ-साथ पाँच अणुव्रतों को आठ मूल-गुण कहा है।[1] आचार्य रविषेण ने अपने पद्मपुराण में मधु, मद्य, मांस, जुआ, रात्रि भोजन, वेश्यागमन के त्याग को नियम कहा है। इसमें मूलगुण शब्द का उल्लेख नहीं है।[2] आ० जिनसेन ने रात्रि भोजन के स्थान पर उदुम्बर त्याग एवं वेश्यागमन में परस्त्री को जोड़कर रविषेण का समर्थन कर दिया है।[3] महापुराण में भी अष्टमूलगुण शब्द न देकर मधु-त्याग, मांस-परित्याग, पंच उदुम्बर फल-भक्षण-परिहार एवं हिंसादि पापों से विरति सर्वकालिक व्रत रूप दिया है।[4] आचार्य अमृतचन्द ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है कि हिंसा के त्याग के इच्छुक को मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलों को छोड़ना चाहिए।[5] सोमदेवसूरि ने उपासकाध्ययन में भी इन्हीं आठ को मूलगुण कहा है।[6] आचार्य देवसेन ने अपने भावसंग्रह[7] में तथा आचार्य पद्मनन्दि ने पंचविंशतिका में भी यही आठ मूलगुण बताये हैं।[8] पं० आशाधर ने सागारधर्मामृत में भी आठ मूलगुणों को गिनाकर आचार्य समन्तभद्र व महापुराण की मान्यता का ही प्रतिपादन कर दिया है।[9]

इस प्रकार मुख्य रूप से अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, सोमदेव ने उपासकाध्ययन, अमितगति ने उपासकाचार, पद्मनन्दि ने पंचविंशतिका, सावयधम्म दोहा, आशाधर ने सागारधर्मामृत तथा लाटीसंहिता में पाँच

---

१. मद्य-मांस-मधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्
अष्टो मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमा ॥ —रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ६६

२. पद्मपुराण, २०२

३. हरिवंशपुराण, गाथा ४८

४. महापुराण, ३८/१२२

५. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ६१ व ७४

६. मद्य मांसमधु त्यागै सहोदुम्बरपञ्चकैः
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मुलगुणाः श्रुते—उपासकाध्ययन, श्लोक २५५

७. भावसंग्रह, श्लोक ३५६

८. पंचविंशतिका, श्लोक २३

९. सागारधर्मामृत, अध्याय २, श्लोक २,३

उदुम्बर एवं तीन मकारों के त्याग को अष्टमूलगुण कहा है। पं० हीरालाल शास्त्री ने वसुनन्दि-श्रावकाचार की भूमिका में इन अष्टमूलगुणों के सम्बन्ध में विस्तार से प्रकाश डाला है।[१] इन मूलगुणों की पालना में मुख्यरूप से अहिंसा की पालना निहित है। इससे श्रावक का खान-पान भी अहिंसक हो सकता है।

अतिचार—

अहिंसाणुव्रत के पालन के लिए हिंसा से बचना जरूरी है, उतना ही अहिंसा के अतिचारों से भी। अतिचार आदि के स्वरूप के सम्बन्ध में प्राचीन जैन ग्रन्थों में विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है।

जैन आगम साहित्य स्थानांगसूत्र में व्रत के खण्डन की चार कोटियाँ बताई गयी हैं :—

(क) अतिक्रम—व्रत में स्खलना का मन में चिन्तन होना।

(ख) व्यतिक्रम—व्रत को खण्डित करने के साधन जुटाना।

(ग) अतिचार—व्रत का आंशिक रूप से खण्डन।

(घ) अनाचार—व्रत का खण्डन[२]।

इस प्रकार अनजान में या अनभिज्ञता में व्रत में कहीं स्खलना हो जाती है तो उसे अतिचार कहा जाता है। ज्ञानियों ने प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचार कहे हैं :—

उपासकदशांगसूत्र में अहिंसा अणुव्रत के पाँच अतिचारों का वर्णन करते हुए लिखा है—

> "तयाणंतर च णं थूलगस्स पाणाइवाय वेरमणस्स
> समणोवासएणं पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा
> न समायरियव्वा। तंजहा-बंधे, वहे, छविच्छेए,
> अइभारे, भत्तपाणवोच्छेए"

---

१. वसुनन्दि-श्रावकाचार, प्रस्तावना, पृष्ठ ३५

२. 'तिविधे अतिक्कमे पण्णत्ते....तिविधे वइक्कमे पण्णत्ते....तिविधे अइयार पण्णत्ते....तिविधे अणायारेपण्णत्ते"।

—स्थानांगसूत्र-मुनि मधुकर, ३/४/१७५

अर्थात् स्थूल प्राणातिपातविरमण व्रत के पाँच अतिचार हैं जिन्हें जानना चाहिए पर आचरण नहीं करना चाहिए। वे बंध, वध, छविच्छेद, भत्तपानविच्छेद, अतिभार हैं।[1] तत्त्वार्थसूत्र में वंध, वध, च्छेद, अतिभार तथा अन्नपाननिरोध अहिंसाणुव्रत के अतिचार माने हैं।[2] रत्नकरण्डक-श्रावकाचार में उक्त पाँचों को ही अतिचार गिनाये हैं।[3] आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में, आचार्य अमितगति ने श्रावकाचार में एवं पं० आशाधर ने सागारधर्मामृत में उक्त पाँचों को ही अतिचार बताये हैं।[4]

अहिंसा के इन पाँचों अतिचारों का परिचय इस प्रकार है—

१. वन्ध—उपासकदशांगटीका में पशु या दास-दासी को ऐसा बांधना जिससे उसे कष्ट हो, वन्ध कहा गया है।[5]

'वन्धोद्विपदादीनारंज्वादीना संयमणं'

तत्त्वार्थसूत्र की टीका सर्वार्थसिद्धि में अभीष्ट स्थान पर जाने से रोकने के कारण को वन्ध कहा है।[6] चामुण्डाचार्य ने चारित्रसार में प्रत्येक अतिचार का वर्णन किया है। वहाँ अपने गन्तव्य स्थान पर जाने से रोकने के निमित्त कील, खूंटी आदि में रस्सी आदि से किसी को वांधना वन्ध नामक अतिचार माना है।[7] आचार्य सकलकीर्ति ने अपने प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में वंध का अर्थ पशु आदि को रस्सी से मजबूती

---

१. उवासगदसाओ, सूत्र ४१

२. वन्ध-वध-च्छेदातिभारारोपणान्नपान निरोधाः —तत्त्वार्थसूत्र, ७/२५

३. छेदन वन्धन-पीडनमति भारारोपणं व्यतिचाराः
आहारवारणापि च स्थूलवधाक व्युपरतेः पञ्च—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ५४

४. क. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १८३
ख. अमितगतिश्रावकाचार, ७/३
ग. सागारधर्मामृत, ४/१५

५. उपासकदशांगटीका—अभयदेव, पृष्ठ २७

६. अभिमतदेशगति निरोध हेतु वंधः—सर्वार्थसिद्धि, ७/२५

७. तत्राभिमतदेशगमनं प्रत्युत्सुकस्य तत्प्रतिवन्धहेतोः
कीलादिषु रज्ज्वादिभिर्व्यतिपङ्गो वन्धः—चारित्रसार, पृ० २३८

से बांधना किया है।[1] लाटीसंहिता में किसी भी पशु को सांकल, रस्सी आदि से इस प्रकार कसकर बांधना जिससे उसे कष्ट पहुँचे, बन्ध कहा गया है।[2] इसी प्रकार के विचार सागारधर्मामृत के विवेचनकार और उपासकदशांग के टीकाकारों ने भी प्रकट किये हैं।

२. वध—उपासकदशांगटीका में 'वधोयष्ट्यादिभिस्ताडनं' कहकर वध का अर्थ घातक प्रहार, जिससे अंगोपाङ्ग को हाँनि पहुँचे, किया है।[3] सर्वार्थसिद्धि में लकड़ी, चाबुक या वेंत आदि से ताड़ित करने को वध कहा है।[4]

चारित्रसार व प्रश्नोत्तरश्रावकाचार में भी यही स्वरूप बताया है।[5] लाटी-संहिता में किसी भी पुरुष या पशु को लकड़ी, वेंत, थप्पड़, घूसा मारने को वध कहा है।[6] आधुनिक विद्वानों ने किसी की मजबूरी का फायदा उठाना एवं अनैतिक दृष्टि से शोषण करने को भी वध ही माना है।[7]

३. छविच्छेद—उपासकदशांगटीका में 'छविछेदत्तिशरीरावयवछेदः' कहकर क्रोध में आकर किसी का अङ्ग काट डालना, अपनी प्रसन्नता के लिए कुत्ते आदि की पूंछ काटना अर्थ किया है।[8] श्रावकप्रज्ञप्तिटीका एवं धवलपुराण में छवि को शरीर कहकर करपत्रादि द्वारा शरीर को छेदने को छविच्छेद कहा है।[9] चारित्रसार व प्रश्नोत्तरश्रावकाचार

---

१. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, १२/१३५
२. लाटी-संहिता, अध्ययन ४/२६४
३. उपासदशांगटीका—अभयदेव पृष्ठ २७
४. दण्ड-कशा वेंभादिभिरभिघातः प्राणिनां वधः—सर्वार्थसिद्धि, ७/२५
५. क. चारित्रसार-श्रावकाचारसंग्रह, भाग १/२३९ से उद्धृत
　ख. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, १२/१३६
६. लाटीसंहिता, ४/२६३
७. शास्त्री, देवेन्द्र मुनि—जैन आचार : स्वरूप और सिद्धान्त, पृष्ठ ३०१
८. उपासकदशांगटीका—अभयदेव, पृ० २७
९. क. छविः शरीरम् तस्य छेदः पाटनं कर पत्रादिभिः—श्रावकप्रज्ञप्ति, २५८
　ख. छवि शरीरं तस्य णहादीणं किरिया विसेसेहि खंडणं छेदोछविच्छेदो, धवल-पुराण १४, पृ० ४०१

में जीव के नाक कानादि अङ्गों को काटने को छविच्छेद नाम दिया है।[1] लाटी-संहिता में किसी को दुःख देने वाला अधिक छेदन इसके अन्तर्गत माना है।[2] जैन आचार्यों ने व्यक्ति को उचित पारिश्रमिक से कम देने को भी छविच्छेद माना है।[3]

४. **अतिभार**—उपासकदशांगटीका में 'अइभारे त्ति अतिभारारोपणं तथा-विध शक्ति विकलानां महाभारारोपणम्' कहकर सामर्थ्य से अधिक बोझ लादना, या शक्ति हीन विकलांगों पर भार डालना, अधिक काम लेना अर्थ किया है।[4] श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में द्विपद, चतुष्पद जितने बोझ को कन्धे अथवा पीठ पर स्वाभाविक रूप से ले जा सके, उससे अधिक लादना अतिभार माना है।[5] चारित्रसार तथा प्रश्नोत्तर-श्रावकाचार में अति लोभ से व्यक्तियों पर न्यायसंगत भार से अधिक लादने को इसके अन्तर्गत माना है।[6] कहीं-कहीं पर शक्ति से अधिक कार्य कराने को भी अतिभार माना है।[7]

५. **अन्नपान निरोध**—उपासकदशांगटीका में—'अशनपानीयाप्रदानमिहाय विभागः' कहकर मूक पशु को भूखा-प्यासा रखना एवं समय पर चारा-पानी नहीं देने को अन्नपान निरोध कहा है।[8] चारित्रसार में बैल आदि के खान-पान को रोककर भूख-प्यास से पीड़ित करना अन्नपान-

---

१ क. चारित्रसार—श्रावकाचारसंग्रह, भाग १/२३९
ख. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, १२/१३७

२. लाटीसंहिता, ४/२६५

३. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि—जैन आचार : स्वरूप और सिद्धान्त, पृ० ३०१

४ उपासकदशांगटीका—अभयदेव, पृ० २७

५. भरणं भारः अतिभरणम् अतिभार : प्रभूतस्य पूगफलादेः स्कन्धपृष्ठारोपण-मित्यर्थः—श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, २५८

६. क. चारित्रसार—श्रावकाचारसंग्रह, १/२३९
ख. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, १२/१३८
ग. लाटीसंहिता ४/२६८

७. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि—जैन आचार, सिद्धान्त और स्वरूप, पृष्ठ ३०१

८. उपासकदशांगटीका—अभयदेवसूरि, पृष्ठ २७

निरोध माना है।[1] जिसका समर्थन प्रश्नोत्तरश्रावकाचार एवं लाटीसंहिता के रचयिताओं ने किया है।[2] नौकर आदि को समय पर वेतन नहीं देना भी इसी में सम्मिलित है।

इस प्रकार अहिंसा अणुव्रत में श्रावक मन, वचन व शरीर के द्वारा त्रसजीवों की अहिंसा करने तथा करवाने का त्याग करता है। इस स्थूल-त्याग के साथ-साथ सूक्ष्म जीवों की भी हिंसा अनावश्यक रूप से नहीं करता है। हर कार्य को विवेक युक्त होकर करता है। अहिंसा अणुव्रत के पालन के साथ-साथ ही श्रावक को ऐसे दोषों को भी ध्यान में रखकर चलना होता है जिनसे व्रत-खण्डन होने की आशंका होती है। अहिंसा के क्रोध में आकर किसी को बांधना, किसी को मारना, अंग का खण्डन करना, किसी के क्षमता से ज्यादा भार लादना एवं किसी के खाने-पीने में बाधा पहुँचाना, ये पांच दोष माने गये हैं। अतः विवेकी श्रावक इन दोषों से बचकर अहिंसा की आराधना करता है।

सत्य अणुव्रत

श्रावक के पांच अणुव्रतों में सत्य का दूसरा स्थान है। सत्य का सामान्य अर्थ असत्य भाषण नहीं करने से लिया जाता है। उपासकदशांग-सूत्र में मृषावाद को असत्य कहा है।[3] प्रश्नव्याकरण सूत्र में अलीक वचन को असत्य कहा है।[4] तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वति ने "असदभिधानमनृतम्" कहकर यह स्पष्ट किया है कि वह वचन जिससे प्राणियों को पीड़ा पहुँचती हो, चाहे वह सच हो या झूठ, असत्य कहलाता है।[5] धवला० में अप्रशस्त वचन का नाम मृषावाद कहकर ऐसा वचन-कलाप मिथ्यात्व, असंयम, कषाय व प्रमाद के आश्रय से उत्पन्न होना बताया है।[6] सर्वार्थ-

---

१. चारित्रसार–श्रावकाचारसंग्रह, १/२३९

२. क. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, १२/१२९ ख. लाटीसंहिता, ४/२७०

३. तयाणंतरं च णं थूलगं मुसावायं पच्चक्खाइ—उवासगदसाओ, १/१४

४. जंबू ! बितियं च अलियवयणं—प्रश्नव्याकरण-सुत्तागमे, पृष्ठ १२०५

५. तत्त्वार्थसूत्र, ७/१४

६. असंतवयणं मुसावादो। किमसंतवयणं ? मिच्छत्तासंजम-कसाय-पमादुट्ठावियो वयणकलावो—धवला० १२, पृष्ठ २७९

सिद्धि के कर्ता ने असद् का अर्थ अप्रशस्त किया है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है कि जो प्रमाद के योग से असद् कथन किया जाता है, वह असत्य कहलाता है।[1]

अतः ऐसे वचन जिनसे प्राणियों को पीड़ा का अनुभव होता है, उनके आत्म सम्मान को ठेस पहुँचती है एवं प्रमादवश होकर अपलाप किया जाता है वे सब असत्य की संज्ञा पाते हैं।

असत्य के प्रकार—

स्थानांगसूत्र में असत्य के चार प्रकार बतलाये गये हैं—

"चउव्विहे मोसे पण्णत्ते तंजहा कायअणुज्जुयया,
भास अणुज्जुयया, भाव अणुज्जुयया, विसंवादणाजोगे"।

अर्थात् काय के द्वारा, असत्य वचन के द्वारा अयथार्थ, मन में कुटिलता रखना, विसंवादों से धोखा देना।[2] उपासकदशांगसूत्र में मन, वचन व काय से तीन प्रकार का असत्य कहा है।[3] श्रावक प्रतिक्रमणसूत्र में एवं योगशास्त्र में वर, कन्या के सम्बन्ध में, गाय, भैंस आदि पशुओं के सम्बन्ध में, भूमि के विषय में पांच प्रकार के असत्य कहे हैं।[4] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में असत्य के चार प्रकार बताये गये हैं। यथा—

(क) **विद्यमान वस्तु का निषेध करना**—अर्थात् जिस वचन में अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से विद्यमान वस्तु भी निषेधित की जाती है।[5]

(ख) **अविद्यमान को विद्यमान बताना**—जिस वचन में पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अविद्यमान को भी वस्तु स्वरूप में प्रकट किया जाता है।[6]

---

१. (क) उपासकाध्ययन-सोमदेवसूरि, प्रस्तावना ७७
(ख) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ९१
२. स्थानांगसूत्र, अध्ययन ४
३. मुसावायं पच्चक्खाई × × मनसा, वयसा, कायसा—उवासगदसाओ, १/१४
४. क. श्रावक प्रतिक्रमणसूत्र, दूसरा अणुव्रत ख. योगशास्त्र २/५४
५. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ९२
६. वही, ९३

(ग) कुछ का कुछ कहना—जिस वचन में अनेक स्वरूप चतुष्टय से विद्यमान वस्तु भी अन्य स्वरूप में कही जाती है ।[१]

(घ) चौथे असत्य के तीन भेद हैं—गर्हित, सावद्य और अप्रिय

१. जो वचन दुष्टता व हँसी से मिश्रित हों तथा मिथ्यात्व रूप एवं व्यर्थ हों, वे सभी गर्हित हैं ।[२]

२. जिन वचनों से प्राणिघात का प्रसंग उपस्थित होता हो ऐसे छेदन, भेदन, मारण आदि संयुक्त वचनों को सावद्य वचन कहते हैं ।[३]

३. जो वचन अप्रीतिकारक, वैरवर्धक, कलहकारक एवं दूसरों को संताप देने वाले हैं, वे अप्रियरूप कहे जाते हैं ।[४]

सोमदेवसूरि ने उपासकाध्ययन में असत्य के चार भेद किये हैं—

(क) असत्य-सत्य—लोक व्यवहार में प्रचलित होने से दैनिक नियम में बोले जाने वाले शब्द, जैसे आटा पीसना, कपड़ा बुनना ।

(ख) सत्य-असत्य—व्यक्ति के कथन में कथंचित् सत्य होता है जैसे—ये शाम को दे दूंगा, वह देता तो है पर शाम की जगह कल देता है ।

(ग) सत्य-सत्य—वस्तु को उसी रूप में कहना ।

(घ) असत्य-असत्य—व्यक्ति के पास उपलब्ध नहीं होने पर भी देने का वायदा करना ।[५]

आचार्य अमितगति ने उपासकाचार में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की तरह असत्य के चार भेद किये हैं परन्तु नामों में परिवर्तन कर दिया गया है । उन्होंने असद्भावन, भूतनिह्नव, विपरीत और निन्द्य नाम दिया है ।[६]

श्रावकप्रतिक्रमण में श्रावक बारह व्रतों के ग्रहण में दूसरे स्थूल मृषावाद में जो स्थूल असत्य निरूपित किये हैं वे इस प्रकार हैं :—

---

१. पुरुपार्थसिद्ध्युपाय, ९४
२. वही, ९६
३. वही, ९७
४. वही, ९८
५. उपासकाध्ययन, ३८३, ३८४
६. अमितगतिकृतश्रावकाचार, गाथा ४८

"थूलगं मुसावायं समणोवासओ पच्चक्खाई से य मुसावाय पंचविहे पण्णत्ते तंजहा—कन्नालीए, गवालीए, भोमालीए, णासावहारे, कूडसक्खिज्जे"

अर्थात् श्रमणोपासक जिस स्थूल असत्य का त्याग करता है वह पाँच प्रकार का है—

(क) वर कन्या के सम्वन्ध में मिथ्या जानकारी देना।

(ख) गाय आदि के सम्वन्ध में असत्य वोलना।

(ग) भूमि के सम्वन्ध में झूठी जानकारी देना।

(घ) धरोहर को देने के सम्वन्ध में असत्य जानकारी देना।

(ङ) झूठी साक्षी देना।[1]

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशात्र में इन्हीं पाँच वातों को यथाक्रम से निर्दिष्ट किया है।[2]

सत्य-स्वरूप

असत्य के स्वरूप व उसके प्रकारों के वर्णन करने से सत्य के स्वरूप को समझने के लिए प्रारम्भिक भूमिका का निर्माण हो जाता है। जैन आगम ग्रन्थ उपासकदशांगसूत्र के प्रथम अध्ययन में आनन्द श्रावक सत्याणुव्रत को ग्रहण करता हुआ कहता है कि मैं यावज्जीवन दो करण तीन योग से स्थूल मृषावाद का प्रयोग नहीं करूँगा, नहीं करवाऊँगा।[3] यथा—

"तयाणंतरं च णं थूलगं मुसावायं पच्चक्खाइ, जावज्जीवाए दुविहं तिविहेण न करेमि न कारवेमि मनसा, वयसा, कायसा"

रत्नकरण्डकश्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र ने सत्याणुव्रत का स्वरूप वताते हुये कहा है कि जो लोक विरुद्ध, राज्यविरुद्ध एवं धर्म विरुद्ध स्थूल झूठ न स्वयं वोलता है न दूसरों से वुलवाता है, साथ ही दूसरों की विपत्ति के लिये कारणभूत सत्य को न स्वयं कहता है, न दूसरों से कहल-

---

१. श्रावकप्रतिक्रमण सूत्र—दूसरा अणुव्रत

२. योगशास्त्र, २५४-५५

३. उवासगदसाओ, १/१४

वाता है, वह सत्याणुव्रत का धारी है।[1] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में सत्याणुव्रत का स्वरूप बताते हुए कहा है कि जो हिंसा करने वाले वचन नहीं वोलता है, निष्ठुर और दूसरों को कष्ट देने वाले वचन नहीं वोलता है एवं हित-मित प्रिय तथा धर्मप्रकाशक वचन वोलता है वह सत्याणुव्रत का धारी है।[2] वसुनन्दि ने अपने वसुनन्दि श्रावकाचार में कार्तिकेयानुप्रेक्षा का ही अनुसरण किया है।[3]

अतिचार

व्रत के अतिक्रमण की चार श्रेणियों में तीसरी श्रेणी अतिचार है। प्रत्येक व्रत के ५-५ अतिचार कहे गये हैं। उपासकदशांगसूत्र में स्थूल मृषा-वाद विरमण व्रत के पाँच अतिचार जानने के योग्य कहे हैं किन्तु आचरण करने योग्य नहीं कहे हैं। वे हैं—सहसाभ्याख्यान, रहस्साभ्याख्यान, स्वदारमन्त्रभेद, मृषोपदेश, कूटलेखकरण।[4]

> "थूलगं मुसावायं वेरमणस्स पंच अइयारा जाणियव्वा
> न समायरियव्वा। तंजहा-सहसा अब्भक्खाणे,
> रहसा अब्भक्खाणे, सदारमंतभेए, मोसोवएसे, कूडलेहकरणे।"

रत्नकरण्डकश्रावकाचार में सत्याणुव्रत के निम्न पाँच अतिचार वताये हैं :—दूसरे की निन्दा करना, दूसरे की गुप्त वातों को प्रकट करना, चुगली खाना, नकली दस्तावेज आदि लिखना, दूसरों की धरोहर का अपहरण करने वाले वचन वोलना।[5] तत्त्वार्थसूत्र में मिथ्योपदेश, असत्य दोषारोपण, कूटलेखप्रकरण, न्यास-अपहार, मंत्रभेद—ये पांच अतिचार कहे हैं।[6] उपासकाध्ययन में सोमदेवसूरि ने दूसरों के मन की वात दूसरों पर

---

१. स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावाद वैरमणम्—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ३/५५

२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, श्लोक ३२-३३

३. वसुनन्दि-श्रावकाचार, श्लोक २०९

४. उवासगदसाओ, १/४२

५. 'परिवाद रहोऽभ्याख्या पैशुन्यं कूटलेखकरणं च।
न्यासापहारितापि च व्यतिक्रमाः पञ्च सत्यस्य॥"
—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ३/५६

६. तत्त्वार्थसूत्र, ७/२५

प्रकट करना, दूसरे की वदनामी फैलाना, चुगली खाना, झूठालेख लिखना, झूठी गवाही देना ये पांच अतिचार कहे हैं।[1]

उपासकदशांग में वर्णित असत्य के पाँच अतिचारों का खुलासा इस प्रकार है :--

१. **सहसा अभ्याख्यान**--सहसा अभ्याख्यान का सामान्य अर्थ विना विचारे दोषारोपण करना है। उपासकदशांगटीका में विना विचारे ही दूसरों पर मिथ्या आरोप जैसे--तू चोर है, सहसा अभ्याख्यान माना है,[2] यथा--

"सहसा अनालोच्याभ्याख्यानम्-असद्दोषाध्याक्षेपणं सहसाभ्याख्यानं यथा चौरस्त्वमित्यादि"

आवश्यक हरिभद्रवृत्ति में समुचित विचार न करके दोषारोपण करने को सहसा अभ्याख्यान कहा है।[3] योगशास्त्र स्वोपज्ञ विवरणिका में अविद्यमान दोषों का आरोपण करने को जैसे--तुम चोर हो, परस्त्री-गामी हो, सहसा अभ्याख्यान कहा है।[4]

२. **रहसाभ्याख्यान**--उपासकदशांगटीका में रहः का अर्थ एकान्त और उसी का आधार लेकर मिथ्यादोषारोपण करना रहोभ्याख्यान अर्थ किया है[5]

यथा--

"रहसा अब्भक्खाणे त्ति रहः एकान्तस्तेन हेतुना अभ्याख्यान रहो भ्याख्यानम्"

चारित्रसार व सर्वार्थसिद्धि में स्त्री पुरुष के द्वारा एकान्त में किये गये कार्य विशेष को प्रकाशित करने का नाम रहसाभ्याख्यान दिया

---

१. उपासकाध्ययन, ३८१

२. उपासकदशांगटीका--अभयदेव पृष्ठ २८

३. "सहसा अनालोच्य अभ्याख्यानं सहसाऽभ्याख्यानम्"

--आवश्यक हरिभद्रवृत्ति ६/८२१

४. "सहसा अनोलोच्याभ्याख्यानं सद्दोषाध्यारोपणं यथा चौरत्वं पारदारिको वैत्यादि"--योगशास्त्र स्वोपज्ञ विवरणिका, ३/९१

५. उपासकदशांगटीका--अभयदेव, पृष्ठ २८

है।[१] प्रश्नोत्तरश्रावकाचार में किसी द्रव्य के लोभ में स्त्री-पुरुष या अन्य के छिपे कार्य को प्रकट करने को रहसाभ्याख्यान की संज्ञा दी है।[२] लाटीसंहिता में शंका उत्पन्न कराकर स्त्री-पुरुष की वात या क्रिया को प्रकाशित करना रहसाभ्याख्यान कहा है।[३]

३. स्वदारमन्त्रभेद—उपासकदशांगटीका में अपनी स्त्री की गुप्त वातों को प्रकट करना स्वदारमंत्रभेद कहा है।[४]

"स्वदारसंबंधिनो मन्त्रस्य विश्रंभ जल्पश्चभेदः
प्रकाशनम् स्वदारमंत्र भेदः"

श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में अपनी पत्नी के विश्वासपूर्ण कथन को दूसरों को कहना स्वदारमंत्रभेद किया है।[५] पारिवारिक जीवन में भी ऐसी अनेक गोपनीयताएँ होती हैं, जिनका प्रकटन उचित नहीं होता है।

४. कूटलेखकरण—उपासकदशांगटीका में कूटलेखकरण का अर्थ—झूठा लेख लिखना, वह भी यदि असावधानी व अविवेक में लिखा हो, अर्थात् श्रावक यह नहीं विचारे कि झूठ बोलने का त्याग है, झूठ लिखने का नहीं। इसके साथ जाली-दस्तावेज वनाना, झूठी मुद्राएँ वनाना, जाली हस्ताक्षर करना कूटलेखक्रिया है।[६] सर्वार्थसिद्धि आदि में दूसरे के द्वारा जो नहीं कहा गया है, उसे अन्य की प्रेरणा से कहना कि उसने ऐसा कहा या किया है, कूटलेखक्रिया कहा गया

---

१. क. यत्स्त्री-पुंसाभ्यामेकान्तेऽनुष्ठितस्य क्रिया विशेषस्य प्रकाशनं तऽ्होभ्याख्यानं वेदितव्यम्—सर्वार्थसिद्धि, ७/२६

ख. चारित्रसार—श्रावकाचारसंग्रह, भाग, १ पृष्ठ २३९

२. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, १३/३४

३. लाटीसंहिता, ५/१९

४. उपासकदशांग-टीका, पृष्ठ २९

५. "स्वदारमंत्रभेदं च स्वकलत्रविश्रव्धभापितान्यकथनं चेत्यर्थः"
—श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, २६३

६. उपासकदशांगटीका—अभयदेव, पृष्ठ २९-३०

है।[1] प्रश्नोत्तरश्रावकाचार और लाटीसंहिता में दूसरों को ठगने के लिए लेख लिखने को कूटलेखकरण कहा जाता है।[2]

५. मोसोवएसे--चारित्रसार में अन्य पुरुष को अन्यथा प्रवृत्ति कराना या अन्यथा अभिप्राय कहना मिथ्योपदेश कहा है।[3] प्रश्नोत्तरश्रावकाचार में किसी कार्य या द्रव्य कमाने के लिए झूठा उपदेश देना,[4] एवं लाटीसंहिता में इस बात को मैं नहीं कहूँगा, तुम कहना इस प्रकार मिथ्यावचन कहने के लिए प्रेरणा देना मृषापदेश कहा गया है।[5]

दिगम्बर आचार्यों ने सहसाअभ्याख्यान की जगह न्यासापहार अतिचार का विधान किया है, जिसका अर्थ दूसरों की धरोहर को मार लेना, न देना, अपहरण कर लेना आदि हैं।[6]

इसी तरह साकारमंत्रभेद को स्वदारमंत्रभेद की जगह माना है। जिसका अर्थ है—दूसरों की बात को नहीं समझकर इशारों द्वारा देखकर अनुमान से बात कहना।[7]

सत्य अणुव्रत में व्यक्ति मिथ्या भाषा का प्रयोग नहीं करता है साथ ही ऐसे वचन भी नहीं बोलता है जो सत्यता लिए हुए होने पर भी सम्मुख खड़े व्यक्ति को पीड़ा पहुँचाता हो। वह विवेकयुक्त होकर अल्प भाषण करता है और सत्य व्रत को खण्डित करने वाले दोषों को ध्यान में रखकर उनसे

---

१. क. अन्येनानुक्तं यत्किञ्चित् पर प्रयोगवशादेव तेनोक्तमनुष्ठितमिति वंचना निमित्तं लेखन कूटलेखक्रिया—सर्वार्थसिद्धि, ७/२६
  ख. चारित्रसार, पृष्ठ ५
  ग. रत्नकरण्डकटीका, ३/१०
  घ. सागारधर्मामृत स्वोपज्ञटीका, ४/४५

२. क. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, १३/३५
  ख. लाटीसंहिता ५/२०-२१

३. तत्राभ्युदयनिःश्रेय सार्थेषु क्रिया विशेषेषु अन्यस्यान्यथा प्रवर्तनमभिसन्धानं वा मिथ्योपदेश—चारित्रसार, ५

४. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, १३/३३

५. लाटीसंहिता, ५/१८

६. लाटीसंहिता, ५/२२

७. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, १३/३६

बचने का प्रयत्न करता है। विना परिणाम का विचार कर दोषारोपण करना, एकान्त में बातचीत कर रहे व्यक्ति पर दोष लगाना, अपनी स्त्री की गुप्त बात प्रकट करना, झूठा लेख लिखना एवं मिथ्या उपदेश देना सत्याणुव्रत के दोष माने गये हैं।

अस्तेय अणुव्रत--

अहिंसा एवं सत्य की व्याख्या के उपरान्त तृतीय क्रम में अस्तेय या अदत्तादान विरमण व्रत आता है। स्तेय या अदत्तादान का सामान्य अर्थ चोरी किया जा सकता है। इसके विवेचन के पूर्व चोरी के स्वरूप एवं उनके प्रकारों के बारे में जानकारी होना अत्यन्त आवश्यक है।

किसी की विना दी हुई वस्तु ले लेना चोरी है। उपासकदशांग में अदत्तादान को ही चोरी कहा है। यहाँ "आदिण्णादाणं" शब्द आया है जिसका सामान्य अर्थ विना दी हुई वस्तु को लेने से ही है।[१] आवश्यकसूत्र में भी यही स्वरूप प्रतिपादित किया है।[२] तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वाति ने "अदत्तादानं स्तेयम्" कहकर विना दी हुई वस्तु को लेने को चोरी कहा है।[३] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में प्रमत्तयोग से दूसरे के द्वारा नहीं दिये हुए धन-धान्यादि परिग्रह को चोरी कहा है।[४] सोमदेवसूरि ने उपासकाध्ययन में सार्वजनिक जल, तृण आदि वस्तुओं के सिवाय अन्य सब विना दी हुई वस्तुओं का ग्रहण करना चोरी बताया है।[५] चारित्रसार व धवलपुराण में ग्राम, आराम, शून्यगृह और वीथी आदि में गिरे, पड़े या रखे हुए मणी, सुवर्ण तथा वस्त्र आदि के ग्रहण का विचार अदत्तादान माना है।[६] आचार्य हरिभद्र ने शास्त्रवार्तासमुच्चय में स्वामी की आज्ञा के बिना पराई वस्तु के लेने को अदत्तादान कहा है।[७]

१. उवासगदसाओ, १/१५
२. आवश्यकसूत्र—मुनिघासीलाल, पृष्ठ ३२३
३. तत्त्वार्थसूत्र, ७/१५
४. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक १०२
५. उपासकाध्ययन, श्लोक ३६४
६. क. अदत्तस्य अदिण्णस्स आदाणं गहणं अदत्तादाणं—धवलपुराण, १२/२८१
   ख. चारित्रसार, पृष्ठ ४१
७. धर्मविरोधेन स्वामिजीवाधननुज्ञातपरकीय द्रव्य ग्रहणम् अदत्तादानम्
   —शास्त्रवार्तासमुच्चय, १/४

स्तेय के प्रकार—

प्रश्नव्याकरणसूत्र में चोरी के चार प्रकार बताये गये हैं—

'सामीजीवादत्तं, तित्थयरेणं तहेय य गुरुहिं।
एवमदत्त सरुवं परुवियं आगम धरेहि।'

अर्थात् स्वामीअदत्त, जीवअदत्त, देवअदत्त एवं गुरुअदत्त ये चार भेद किये हैं।[1] अर्थात् श्रावक स्वामी की, जीव की, देव की एवं गुरु की आज्ञा लिये विना वस्तु को ग्रहण नहीं करे। श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र में चोरी के ५ भेद किये हैं। यथा—खात-खनना यानि सेंध लगाकर वस्तुएं ले जाना, गठड़ी खोलना अर्थात् विना पूछे किसी की गांठ खोलकर सामान निकालना, ताला तोड़ना, मालिक की पड़ी हुई वस्तु उठा लेना, लूट-खसोट द्वारा जबरदस्ती वस्तु अपने अधीन करना।[2] यहीं पर सचित्त अदत्तादान एवं अचित्त अदत्तादान दो भेद भी प्राप्त होते हैं।[3]

एक अन्य दृष्टि से चोरी के चार प्रकार भी कहे हैं[4] :—

(क) द्रव्य चोरी—धन आदि चुरा लेना।

(ख) क्षेत्र चोरी—खेत, वगीचा या जमीन आदि दवा लेना।

(ग) काल चोरी—वेतन, किराया, ब्याज आदि में न्यूनाधिक करना।

(घ) भाव चोरी—किसी कवि, लेखन आदि के भावों को चुराना।

अचौर्य का स्वरूप—

उपासकदशांगसूत्र में अस्तेय अणुव्रत का स्वरूप बताते हुए कहा है—

'तयाणंतरं च णं थूलगं आदिण्णादाणं पच्चक्खाइ
जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि
मणसा वयसा कायसा'

---

१. जिनवाणी—अक्टूबर १९७९, पृष्ठ ६

२. आदिण्णादाणे पंचविहे पण्णत्ते—तंजहा खत खण्णं, गंठि भेयणं, जतुग्घाडनं पडियंवत्थु हरणं, ससामिय वत्थुहरणं-जिनवाणी—अक्टूबर १९७९, पृष्ठ ६

३. आवश्यकसूत्र, ३

४. जिनवाणी-अक्टूबर १९७९, पृष्ठ ७

अर्थात् मैं स्थूल अदत्तादान का दो करण तीन योग से त्याग करता हूँ।[1]

आवश्यकसूत्र में स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत का स्वरूप बताते हुए कहा है कि श्रमणोपासक स्थूल अदत्तादान का त्याग करता है, वह दो प्रकार का है—सचित्त अदत्तादान एवं अचित्त अदत्तादान।[2] यहाँ सचित्त अदत्तादान का तात्पर्य चेतनायुक्त पदार्थों, जिसमें दास-दासी, गाय-भैंस वगैरह से है तथा अचित्त का तात्पर्य धन, जमीन, सोना-चाँदी आदि धातु तथा रुपये-पैसे से है। रत्नकरण्डकश्रावकाचार के अनुसार जो दूसरे की रखी हुई, गिरी हुई, भूली हुई, वस्तु को और बिना दिये हुए धन को न तो स्वयं लेता है न उठाकर दूसरों को देता है उसे अचौर्याणुव्रतधारी कहते हैं।[3] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में जो बहुत मूल्यवाली वस्तु को अल्प मूल्य में नहीं लेता है, दूसरों की भूली हुई वस्तु को ग्रहण नहीं करता है, जो अल्प में संतोषधारण करता है, जो पराये द्रव्य को क्रोध, मान, माया, लोभ से अपहरण नहीं करता है तथा धर्म में दृढ़ चित्त है वही अचौर्याणुव्रती है।[4] आचार्य अमितगति ने अपने श्रावकाचार में खेत में, गांव में, वन में, गली में, घर में, खलिहान में, अथवा ग्वाल-टोली में रखे, गिरे, पड़े या नष्ट-भ्रष्ट हुए पराये द्रव्य को ग्रहण नहीं करने को अचौर्याणुव्रत माना है।[5] आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में कहा है कि किसी की गिरी हुई वस्तु को रखकर भूली हुई वस्तु को, स्वामी के पास रखी हुई वस्तु को बिना अनुमति के किसी भी सकट के उत्पन्न होने पर न लेना अस्तेय है।[6] सागारधर्मामृत में कहा गया है कि पुत्रादिक से रहित अपने कुटुम्बी भाई वगैरह के धन से तथा सम्पूर्ण लोगों द्वारा भोगने योग्य जल, घास आदि पदार्थों से भिन्न,

---

१. उवासगदसाओ, १/१५

२. थूलगं अदिण्णादाणं समणोवासओ पच्चक्खाइ, से अदिण्णादाणे दुविहे पण्णत्ते तंजहा—सचित्तादत्तादाणे अचित्तादत्तादाणे य—आवश्यकसूत्र, ३

३. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ५७

४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, श्लोक ३४-३५

५. क. अमितगति-श्रावकाचार, ६/५९
   ख. वसुनन्दि-श्रावकाचार, श्लोक २११

६. योगशास्त्र, प्रकाश २/६६

दूसरों के धन को न स्वयं ग्रहण करे, न दूसरों से करावें तभी अस्तेयव्रत होता है।[1]

अतिचार—

व्रत को यथाशक्ति परिपालन करते हुए भी प्रमाद या असावधानीवश इनमें जो स्खलना हो जाती है उन्हें अतिचार कहते हैं। अचौर्यव्रत के पांच अतिचार उपासकदशांगसूत्र में बताये गये हैं :—

> "थूलगं अदिन्नादाणविरमणस्स पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा-तेनाहडे, तक्करपओगे विरुद्धरज्जातिकमे, कुडतुल्लकूटमाणेतप्पडिरूवगववहारे।"

अर्थात् स्थूलअदत्तादान विरमण व्रत के पांच अतिचार जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं। ये हैं :—स्तेनाहृत, तस्कर प्रयोग, विरुद्ध राज्यातिक्रम, कुटतुल-कूटमाण, तत्प्रतिरूपक व्यवहार।[2] रत्नकरण्डकश्रावकाचार में भी किसी को चोरी के लिये भेजना, चोरी की वस्तु को लेना, राज्य नियमों का उल्लंघन करना, बहुमूल्य वस्तु में समान रूप वाली अल्प मूल्य की वस्तु मिलाकर वेचना एवं देने में कम तथा लेने में अधिक नाप तोल करना अचौर्याणुव्रत के पांच अतिचार गिनाये हैं।[3] तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वाति ने,[4] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में आचार्य अमृतचन्द्र ने[5] तथा सागारधर्मामृत में आचार्य आशाधर ने भी यही पांच अतिचार गिनाये हैं।[6]

सोमदेव ने अपने उपासकाध्ययन में कहा है कि बाँट, तराजू को कमती बढ़ती रखना, चोरी का उपाय बतलाना, चोरी का माल खरीदना, देश में युद्ध छिड़ जाने पर पदार्थों का संग्रह करना अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं।[7]

---

१. सागारधर्मामृत, ४/४६
२. उवासगदसाओ, १/४३
३. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ५८
४. तत्त्वार्थसूत्र, ७/२७
५. पुरुपार्थसिद्धयुपाय, १८४
६. सागारधर्मामृत, ४/५०
७. उपासकाध्ययन, श्लोक ३७०

अतः निष्कर्ष रूप यदि व्यक्ति मानसिक रूप से यह सोच ले कि चोरी करने तथा कराने वाला दोषी है मुझे इस वस्तु को लेने में क्या आपत्ति है? परन्तु यह भी व्रत धारण करने वाले के लिए अनुचित है। साथ ही तस्करों को माल देना, उनसे माल लेना, उनको कानूनी सहायता देना भी अतिचारों में सम्मिलित हैं। राजकीय नियमों का उल्लंघन करना, करों का समय-समय पर भुगतान नहीं करना, व्यापारिक कार्य-कलापों में, लेन-देन में, कम-ज्यादा देना एवं किसी असली वस्तु में नकली वस्तु को मिला देना आदि श्रावकव्रत को धारण करने वाले अणुव्रती के लिए अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं। इनसे उसे वचना चाहिए। श्रावक को सर्वहित ध्यान में रखकर इसका पालन करना चाहिए तभी सुख-शांति एवं आत्मा का विकास संभव हो सकेगा। व्रत का पूर्णरूपेण लाभ उसका निरतिचार पालन करने में ही है। जिससे जीवन सीमित एवं नीतिमय वन सकता है।

१. स्तेनाहृत—उपासकदशांगटीका में चोर द्वारा लाई वस्तु स्वीकार करने को स्तेनाहृत कहा है।[1]

"स्तेनाहृतमतिचार उक्तोतिचारताचास्य साक्षाचौर्य प्रवृत्ते"

श्रावकप्रज्ञप्ति टीका में स्तेन का अर्थ चोर तथा चोरों द्वारा लाई गई वस्तुओं को लोभ से ग्रहण करने को स्तेनाहृत कहा है।[2] प्रश्नोत्तर-श्रावकाचार[3] एवं लाटीसंहिता में मनुष्यों को चोरी करने की प्रेरणा देना और उपाय वताने को स्तेनप्रयोग कहा है।[4]

२. तस्करप्रयोग

उपासकदशांगसूत्र की टीका में आचार्य अभयदेव ने चोरों को चोरी के कार्य में प्रवृत्त करना एवं 'इस प्रकार करो' इस प्रकार अनुज्ञा करना

---

१. उपासकदशांगटीका, अभयदेव, पृष्ठ ३१

२. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, पृष्ठ १५८

३. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, १४/३०

४. लाटीसंहिता, ५/४९

तस्कर प्रयोग है।[1] प्रश्नोत्तर श्रावकाचार [2] व लाटीसंहिता में[3] बिना प्रेरणा चोरी करके लाये हुए धन को ग्रहण करने को तस्कर प्रयोग कहा गया है।

३. विरुद्धराज्यातिक्रम

"विरुद्धनृपयोराज्यं विरुद्धराज्यंतस्यातिक्रमोऽतिलंघन विरुद्ध राज्यामिलं धनं"

उपासकदशांग की टीका में आचार्य अभयदेव ने विरोधी राजाओं की निषिद्ध सीमा का उल्लंघन करना व राज्यविरुद्ध कार्य करना विरुद्ध राज्यातिक्रम माना है।[4] श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में दो अलग-अलग राजाओं के राज्य से सामान, कर आदि बचाकर ले जाना एवं दूसरे राज्य की वस्तु अपने राज्य में लाना विरुद्धराज्यातिक्रम माना है।[5] प्रश्नोत्तरश्रावकाचार में जो राजनीति को छोड़कर व्यापार करता है एवं अधिक धन ग्रहण करता है उसके यह अतिचार लगता है।[6] लाटीसंहिता के अनुसार राजा की आज्ञा चाहे वह योग्य हो या अयोग्य पालन न करना विरुद्ध राज्यातिक्रम है।[7]

४. कूटतुलाकूटमान

"कूटतुलेकूडमाणेत्ति तुला प्रतीता मान कुड़वादिकूटत्वं न्यूनाधिकत्वं ताभ्यां न्यूनाधिकाभ्यां"

उपासकदशांगटीका व श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में तुला का अर्थ तराजू व मान का अर्थ मापने, तौलने के बाट से किया है। इसके लेन-देन में अधिक

---

१. क. उपासकदशांगटीका—अभयदेव, पृष्ठ ३१
   ख. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, पृष्ठ १५८
२. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, १४/३१
३. लाटीसंहिता, ५/५०
४. उपासकदशांगटीका—अभयदेव, पृष्ठ ३१
५. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, पृष्ठ १५८
६. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, १४/३२
७. लाटीसंहिता, ५/५२

प्रमाण रखना कूटतुलाकूटमान अर्थ है।[1] प्रश्नोत्तरश्रावकाचार एवं लाटीसंहिता में खरीदने के लिए बाँट या गज अधिक रखना तथा वेचने के लिए कमती रखने को हिनाधिकमनोन्मान कहा है।[2]

५. तत्प्रतिरूपव्यवहार

"तप्पडिरूवगववहारेत्ति तेन प्रतिरूपकं सदृशं तत्प्रतिरूपकं तस्य-विवधमवहरणं व्यवहारः"

उपासकदशांगटीका व श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में अधिक मूल्य वाली वस्तु में उसी के अनुरूप कम मूल्य वाली वस्तु मिलाकर वेचना तत्प्रतिरूपक व्यवहार अर्थ किया है।[3] प्रश्नोत्तरश्रावकाचार एवं लाटीसंहिता में भी यही स्वरूप अंकित है।[4]

ब्रह्मचर्य-अणुव्रत

श्रावक का चौथा अणुव्रत ब्रह्मचर्य है, जिसका सामान्य अर्थ अब्रह्म का सेवन न करना है। इस अब्रह्म की परिभाषा जैन ग्रन्थों में विस्तार से दी गयी है। उपासकदशांगसूत्र में अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों से मैथुन सेवन करना अब्रह्म का स्वरूप माना गया है।[5] आचार्य कुन्दकुन्द

---

१. क. उपासकदशांगटीका—अभयदेव, पृष्ठ ३१
   ख. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, १५८

२. क. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, १४/३२
   ख. लाटीसंहिता, ५/५४

३. क. उपासकदशांगटीका—अभयदेव, पृष्ठ ३२
   ख. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, १५९

४. क. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, १४/३४
   ख. लाटीसंहिता, ५/५५

५. क. सदारसंतोसिए परिमाणं करेइ। नन्नत्थ एक्काए सिवानंदाए भारियाए अवसेसं सव्वं मेहुणविहिं पच्चक्खामि

—उवासगदसाओ १/१६

   ख. मेहुणाओ वेरमणं सदारसंतोसिए अवसेसं मेहुणविहि . .

—आवश्यकसूत्र, पृष्ठ ३२४

ने पर-महिला से मैथुन सेवन करना, अब्रह्म माना है।[1] तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वाति ने "मैथुनब्रह्म" कहा है, अर्थात् चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होने पर रागभाव से प्रेरित होकर स्त्री-पुरुष का जोड़ा जो रति सुख के लिए चेष्टा करता है उसे मैथुन कहते हैं और मैथुन ही अब्रह्म है।[2] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में जो वेदनोकषाय के राग योग से स्त्री-पुरुष की जो मैथुन क्रिया होती है उसे अब्रह्म माना है।[3] सर्वार्थसिद्धि में मैथुन का स्वरूप चारित्रमोह का उदय होने पर राग आक्रान्त स्त्री-पुरुष के जो परस्पर के स्पर्श की इच्छा होती है वह मिथुन एवं उनकी क्रिया को मैथुन माना गया है।[4]

मैथुन के प्रकार—स्थानांगसूत्र में तीन प्रकार के मैथुन कहे गये हैं जिन्हें दिव्य, मानुष्य एवं तिर्यक् के रूप में माना है।[5] आवश्यकसूत्र में मन, वचन, काय के भेद से तीन प्रकार का मैथुन माना गया है।[6]

ब्रह्मचर्य-स्वरूप

उपासकदशांगसूत्र में आनन्द ने ब्रह्मचर्य अणुव्रत को ग्रहण करते हुए प्रतिज्ञा की कि—

> "सदारसंतोसिए परिमाणं करेइ, ननत्थ एक्काए सिवानंदाए भारियाए, अवसेसं सव्वं मेहुणविहिं पच्चक्खामि"

अर्थात् मैं स्वपत्नी सन्तोष व्रत ग्रहण करता हूँ, अपनी शिवानन्दा नामक पत्नी के अतिरिक्त सब प्रकार के मैथुन का त्याग करता हूँ।[7]

---

१. थूले तसकायवहे थूले मोसे अदत्तथूले य।
परिहारो परमहिला, परग्गहारंभ परिमाणं॥ —चारित्रपाहुड, गाथा २४

२. तत्त्वार्थसूत्र, ७/१६

३. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १०७

४. "स्त्री पुंसयोश्चारित्र मोहोदयेसति रागपरिणामा विष्टयोः परस्पर स्पर्शनं प्रतिइच्छा मिथुनम् मिथुनस्य कर्मं मैथुनमिच्युच्यते" —सर्वार्थसिद्धि, ७/१६

५. "तिविहे मेहुणे पण्णत्तं-दिव्वे माणुस्सए तिरिक्खजोणिए —स्थानांगसूत्र, ३/१

६. "सदारसंतोसिए दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि—मणसा वयसा कायसा"—आवश्यकसूत्र, पृष्ठ ३२४

७. उवासगदसाओ, १/१६

आवश्यकसूत्र में भी अपनी विवाहिता स्त्री में सन्तोष रखकर अन्य सम्पूर्ण मैथुन सेवन का त्याग करना ब्रह्मचर्याणुव्रत माना गया है।[१]

ब्रह्मचर्य-अणुव्रत के ग्रहण से श्रावक काम-वासना से पूर्ण-निवृत्त तो नहीं होता है, परन्तु संयमित हो जाता है जिससे वह एक सद्गृहस्थ की भूमिका का निर्वाह कर लेता है। रत्नकरण्डकश्रावकाचार में लिखा है कि जो पाप के भय से पराई स्त्रियों के पास न जाता है, न दूसरों को भेजता है, वह स्वदारसन्तोष नामक अणुव्रत का पालन करता है।[२] सर्वार्थसिद्धि में पूज्यपाद में लिखा है कि गृहीत या अगृहीत पर स्त्री के साथ रति न करना गृहस्थ का चौथा अणुव्रत है।[३] सोमदेवसूरि ने उपासकाध्ययन में लिखा है कि अपनी विवाहिता स्त्री और वित्त स्त्री के सिवाय अन्य सभी स्त्रियों को माता, बहन या पुत्री मानना ब्रह्मचर्याणुव्रत है।[४] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है कि जो पराई स्त्रियों को अपनी माता, बहन व पुत्री के समान समझता है वह भी मन, वचन व काय से स्थूल ब्रह्मचर्यव्रत का धारी है।[५] वसुनन्दि-श्रावकाचार में लिखा है कि अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व के दिनों में स्त्रीसेवन तथा सदा अनंगक्रीड़ा का त्याग करने वाले को स्थूलब्रह्मचारी कहा जाता है।[६] सागारधर्मामृत में रत्नकरण्डकश्रावकाचार का ही स्वरूप बताया गया है।[७]

उपर्युक्त आगम ग्रन्थों व अन्य विवेचन से यह प्रतीत होता है कि सभी ने स्वस्त्री को छोड़कर बाकी सभी स्त्रियों के संसर्ग के त्याग को ब्रह्मचर्यव्रत बताया है। परन्तु आचार्य सोमदेव ने स्वस्त्री के साथ वेश्या को भी शामिल कर लिया है। इसका क्या कारण है, यह नहीं बताया गया

---

१. "सदारसंतोसिए अवसेसं मेहुणविहिं पच्चक्खामि" —आवश्यकसूत्र, पृष्ठ ३२४

२. न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत् सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसन्तोषनामपि—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ५९

३. सर्वार्थसिद्धि, ७/२०

४. उपासकाध्ययन, श्लोक ४०५

५. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३३८

६. वसुनन्दि-श्रावकाचार, श्लोक २१२

७. सागारधर्मामृत, ४/५२

है। उपासकाध्ययन की भूमिका में पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने कहा कि यह देशविरतिश्रावक व्रत ग्रहण करने का प्रारम्भिक स्तर माना जा सकता है। हो सकता है यह सम-सामयिक परिस्थितियों से भी प्रभावित हो।[1]

अतिचार

ब्रह्मचर्य अणुव्रत में स्खलन न आए इसलिए इसके भी पाँच अतिचार कहे गये हैं। उपासकदशांगसूत्र में लिखा है कि—

"सदारसंतोसिए पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा-इत्तरियपरिग्गहियागमणे, अपरिग्गहियागमणे, अनंगकीडा, पर-विवाह-करणे, कामभोग तिव्वाभिलासे"

अर्थात् स्वदार सन्तोष-व्रत के पाँच अतिचार जानने योग्य हैं, परन्तु आचरण करने योग्य नहीं हैं। ये इत्त्वरपरिगृहीतागमन, अपरिगृहीतागमन, अनंगक्रीडा, परविवाहकरण, कामभोगतीव्र-अभिलाषा है।[2] रत्नकरण्डक-श्रावकाचार में दूसरों का विवाह कराना, कामसेवन के सिवाय अन्य अंगों से कामसेवन करना, अश्लील वचन कहना, काम करने की अधिक तृष्णा रखना एवं व्यभिचारिणी स्त्रियों के यहाँ गमन करना ये पाँच अतिचार गिनाये हैं।[3] इन्हीं का उल्लेख तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वाति ने किया है।[4] सोमदेवसूरि ने उपासकाध्ययन में परायी स्त्री के साथ संगम, अनङ्ग-क्रीड़ा, परविवाह करना, काम-भोग की तीव्र अभिलाषा एवं विटत्व ये पाँच अतिचार कहे हैं।[5] पं० आशाधर ने भी सागारधर्मामृत में रत्नकरण्डक-श्रावकाचार में वर्णित अणुव्रत ही गिनाये हैं।[6]

---

१. उपासकाध्ययन—प्रस्तावना, पृष्ठ ८१-८२

२. उवासगदसाओ, १/४४

३. "अन्यविवाहाकरणानङ्ग क्रीड़ाविटत्वविपुलतृषः।
इत्वरिकागमनं चास्मरस्य पञ्च व्यतीचाराः॥
—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ६०

४. "परविवाहकरणोत्वरिका—परिगृहीता परिगृहीतागमनानङ्ग क्रीड़ाकामतीव्राभि-निवेशाः—तत्त्वार्थसूत्र ७/२८

५. उपासकाध्ययन, श्लोक ४१८

६. सागारधर्मामृत ४/५८

१. इत्वरिपरिगृहीतागमन

"इत्तरिय परिग्गहियागमणे त्ति इत्वरकालं परिगृहीताकाल शब्द लोपादित्वरपरिगृहीता भाटीप्रदानेन कियंतमपिकालंदिवसमासादिकं स्ववशीकृतेत्यर्थः"

उपासकदशांगटीका में आचार्य अभयदेव ने इत्वर का अर्थ अल्प समय किया है, भाड़ा देकर कुछ काल के लिये अपनी पत्नी जैसा व्यवहार करना इत्वरिपरिगृहीतागमन अर्थ किया है।[१] जिस स्त्री का एक पुरुष स्वामी है वह परिगृहीता कहलाती है, ऐसी व्यभिचारिणी स्त्री में गमन करने को चारित्रसार के कर्ता चामुण्डाचार्य ने इत्वरिका-परिगृहीता गमन कहा है।[२] सागारधर्मामृत में विना स्वामी वाली असदाचारिणी स्त्री को इत्वरिका कहा गया है, उसे गमन के समय रुपया देकर कुछ काल के लिए अपना वनाना भी दोष है।[३] लाटीसंहिता में इत्वरिका शब्द का अर्थ व्यभिचारिणी स्त्री किया है, ऐसी स्त्री के साथ वातचीत करना, शरीर स्पर्श करना, क्रीड़ा करना इस व्रत का अतिचार माना गया है।[४]

२. अपरिगृहीतागमन

"अपरिगृहिता नाम वेश्यान्यासक्ता परिगृहीताभाटक कुलांगनावा अनाथेति अस्याप्यतिचारतातिक्रमादिभिरे"

उपासकदशांग टीका में आचार्य अभयदेव ने वेश्या या पति द्वारा परित्यक्त व अनाथ को पैसा देकर अपना वना लेने को अपरिगृहीतागमन अर्थ किया है।[५] चारित्रसार में वेश्या या व्यभिचारिणी होने से पर-पुरुषों के पास जाने वाली पति रहित स्त्री को इत्वरिकाअपरिगृहीता कहा है। उसमें गमन करना इत्वरिकाअपरिगृहीतागमन कहलाता

---

१. उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ३२
२. "या पुनरेकपुरुषभर्तृका सा परिगृहीता, तस्या गमनमित्वरिकापरिगृहीता गमनम्"—चारित्रसार, २४०
३. सागारधर्मामृत, ४/५८—व्याख्या
४. लाटीसंहिता ५/७५
५. उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ३२

है।[1] श्रावकप्रज्ञप्तिटीका एवं आवश्यक हरिभद्रवृत्ति में वेश्या या अन्य पुरुष में आसक्त होकर भाड़े को ग्रहण करने वाली अनाथ और कुलीन स्त्री को अपरिगृहीता कहा है। उसमें गमन करने की अपरिगृहीता-गमन माना है।[2]

३. अनङ्गक्रीड़ा

"अनंगक्रीडत्ति अनंगानि मैथुनकम्मां"

उपासकदशांगटीका में आचार्य अभयदेव ने कामसेवन के अंगों से भिन्न अंगों के द्वारा मैथुन सेवन करना अनंगक्रीड़ा है।[3] प्रायः सभी आचार्यों ने इसका यही स्वरूप निर्दिष्ट किया है।[4]

४. परविवाहकरण

"परविवाहकरणमयमभिप्रायः स्वदारसंतोषिनोहिनयुक्तं परेषां विवाहादिकरणेव्"

उपासकदशांगटीका में आचार्य अभयदेव ने अपने परिवार के सदस्यों को छोड़कर अन्य का विवाह कराना परविवाहकरण कहा है।[5] चारित्रसार व सर्वार्थसिद्धि में अपनी कन्या को छोड़कर दूसरों का विवाह कराना परविवाहकरण माना गया है।[6] श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में

---

१. "गणिकात्वेन वा पुंश्चलित्वेन वा पर—पुरुषगमनशीला अस्वामिका सा अपरिगृहीता, तस्या गमनमित्वरिकाऽपरिगृहीता गमनम् —चारित्रसार, २४०
२. क. अपरिगृहीता नाम वेश्या अन्यसक्ता गृहीतभाटी कुलाङ्गना वा अनाथेति तद्गमनम् अपरिगृहीतागमनम्—श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, २७३
   ख. आवश्यकहरिभद्रवृत्ति, ६/८२५
३. उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ३२
४. क. सर्वार्थसिद्धि, ७/२८
   ख. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, २/७३
   ग. रत्नकरण्डकटीका, २/१४
५. उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ट ३७
६. क. परस्य विवाहकरणं पर विवाहकरणम्—चारित्रसार, २४०
   ख. कन्यादानं विवाह परस्य विवाहः परविवाहः परविवाहस्य करणं परविवाहकरणम्—सर्वार्थसिद्धि, ७/२८

'पर' शब्द का अर्थ अपनी सन्तान को छोड़कर अन्य से लिया है। कन्यादान के फल की इच्छा एवं स्नेह सम्बन्ध से अन्य के विवाह को कराना परविवाह माना गया है।[1]

५. कामभोगतीव्राभिलाषा

"स्वदारसंतोषी हि विशिष्टविरतिमाननतेन च तावत्यैव-मैथुनकर्तुं-मुचितायावत्यावेदजनित-बोधापशाम्यतिमस्तुवाजीकरणादिभिः"

उपासकदशांगटीका में आचार्य अभयदेव ने गृहस्थ में वेद को उपशमन करने के लिए विवाह संस्कार होता है, परन्तु कामासक्त होकर कामजनक औषध का प्रयोग करना और मादक द्रव्य का आसेवन करना कामतीव्राभिलाषा है।[2] चारित्रसार, लाटीसंहिता, सर्वार्थसिद्धि एवं तत्त्वार्थवार्तिक में काम सेवन की बढ़ी हुई परिणति को कामभोगतीव्राभिलाषा कहा है।[3] धवलबिन्दु मूलवृत्ति में काम का अर्थ मैथुन-क्रिया से किया है। शब्द और रूप को काम तथा गन्ध, रस और स्पर्श को भोग कहा जाता है। इन पाँचों की उत्कृष्ट इच्छा ही कामतीव्राभिषेक कहलाती है।[4]

---

१. "परविवाहकरणमीतीह स्वापत्यव्यतिरिक्तमपत्यं पर शब्दे नोच्यते, तस्य कन्याफललिप्सया स्नेहबन्धेन वा विवाहकरणमिति"

—श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, २७३

२. उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ३३

३. क. कामस्य प्रवृद्धः परिणामः कामतीव्राभिनिवेशः—सर्वार्थसिद्धि ७/२८

ख. चारित्रसार, २४०

ग. लाटीसंहिता, ५/७८

घ. तत्त्वार्थवार्तिक, ७/२८

४. "तथा कामे कामोदयजन्ये मैथुने अथवा सूचनात् सूयमिति न्यायात् कामेषु कामभोगेषु तत्र कामौ शब्द रूपे भोगा गन्ध रस स्पर्शः तेषु तीव्राभिलापः अत्यन्ततरध्यवसायित्वं यतो वाजीकरणादिनाऽनवरतसुरतसुखार्थं मदनमुद्दीपयन्ति"

—धवलबिन्दुमूलवृत्ति, ३/२६

इस प्रकार श्रावक आचार में गृहस्थ के लिए स्त्री का पूर्ण त्याग न करके सामाजिक मर्यादा निश्चित कर दी, जिससे व्यक्ति अपनी पत्नी से ही संतुष्ट रहे और अन्य विकारों से मुक्त रहे। इस व्रत में होने वाली त्रुटियों को भी वह ध्यान में रखता है ताकि विवेक एवं बुद्धि के द्वारा उन्हें टाल सके। किसी भी ऐसी स्त्री को पैसे देकर अपनी पत्नी की तरह व्यवहार कर उसे अपना बना लेना दोषपूर्ण है। यहाँ तक की अपनी स्त्री अगर अल्पवयस्क है तो उसके साथ भी संभोग नहीं करना चाहिए। साथ ही किसी ऐसी स्त्री को जिसे उसके पति ने छोड़ दिया हो, या वह वेश्या हो, विधवा हो, उसे भी अपना बनाना त्याज्य है। अप्राकृतिक रूप से यानि कामसेवन के सिवाय अन्य अंगों द्वारा कामपूर्ति करना हेय है। अपने पुत्र-पुत्रादि के सिवाय अन्य व्यक्तियों के रागादि भावों से विवाह-संस्कार कराना अतिचार है। काम-भोग की तीव्र भावनाएँ रखना एवं काम उद्दीपन के लिए मादक वस्तुओं का सेवन करना भी अतिचारों में सम्मिलित है। इनसे बचे रहने से ही निर्दोष ब्रह्मचर्य का परिपालन हो सकता है।

अपरिग्रह अणुव्रत—

अपरिग्रह का स्वरूप प्रतिपादन के पूर्व हमें परिग्रह के स्वरूप को समझना आवश्यक है।

परिग्रह-स्वरूप—"जहा लाहो तहा लोहो" उत्तराध्ययनसूत्र की यह युक्ति सार्थक ही है कि जैसे-जैसे व्यक्ति की आकांक्षा की पूर्ति होती जाती है वैसे-वैसे उसकी तृष्णा बढ़ती चली जाती है। यही परिग्रह का मूल है। उपासकदशांगसूत्र में अपरिमित इच्छा शक्ति को ही परिग्रह का कारण माना है।[1] तत्त्वार्थसूत्र में 'मूर्छा परिग्रहः' कहकर वाह्य वस्तुओं व आन्तरिक ममत्व में जो रागभाव है उसे परिग्रह माना है।[2] सर्वार्थसिद्धि में "मंदेति बुद्धिलक्षणः परिग्रहः" कहकर मंद बुद्धियुक्त व्यक्ति के ममत्व को परिग्रह कहा है।[3] प्रज्ञापनामलयगिरिवृत्ति में धर्मोपकरण को छोड़कर अन्य को स्वीकार करना एवं धर्मोपकरण में भी ममत्व रखने को

---

१. तयाणंतरं च णं इच्छाविहि परिमाणं करेमाणे —उवासगदसाओ, १/१७

२. तत्त्वार्थसूत्र, ७/१७

३. सर्वार्थसिद्धि, ६/१५

परिग्रह कहा है।[१] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है कि मोह के उदय से हुआ ममत्व परिणाम मूर्च्छा कहलाती है, और यही मूर्च्छा-भाव परिग्रह है।[२] उपासकाध्ययन में तत्त्वार्थसूत्र का ही अनुसरण किया गया है।[३] गृहस्थधर्म में आचार्य जवाहर ने परिग्रह की व्युत्पति करते हुए कहा है "परिग्रहणं परिग्रह" अर्थात् जो ममत्व रूप से ग्रहण किया जाय, वही परिग्रह है।[४]

परिग्रह के भेद—

स्थानांगसूत्र में परिग्रह के कर्म-परिग्रह, शरीर-परिग्रह और वस्तु-परिग्रह—ये तीन प्रकार के परिग्रह माने हैं।[५] उपासकदशांगसूत्र में अपरिग्रह को इच्छापरिमाणव्रत कहा है। यहाँ परिग्रह के सात भेद किये हैं। सोना, चाँदी, चतुष्पद, खेत, वस्तु, गाड़ी, वाहन के रूप में ये सात भेद हैं।[६] श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र में परिग्रह के नौ प्रकार बताये हैं।

> खेत्तवत्थु पमाणाइक्कमे, हिरणसुवण्ण पमाणाइक्कमे, दुप्पयचउपय पमाणाइक्कम्मे, धनधान्य पमाणाइक्कम्मे, कुवियपमाणइक्कमे"

अर्थात् श्रावक खेत, वस्तु, धन, धान्य, सोना, चाँदी, द्विपद, चतुष्पद एवं कुविय धातु के परिग्रह की सीमा निर्धारित कर लें।[७] उपासकाध्ययन में सोमदेवसूरि ने परिग्रह के बाह्य तथा आभ्यन्तर दो

---

१. परिग्रहो धर्मोपकरणवर्ज्जवस्तुस्वीकारः धर्मोपकरणमूर्च्छा च।
—प्रज्ञापनामलयगिरिवृत्ति २८४/४४६

२. पुरुपार्थसिद्ध्युपाय, १११

३. उपासकाध्ययन, ३९८

४. गृहस्थधर्म, भाग २, पृष्ठ २५७

५. "तिविधे परिग्गहे पण्णत्ते-तंजहा-कम्म परिग्गहे, सरीर परिग्गहे, बाहिर भंड मत्त परिग्गहे"—स्थानांगसूत्र, ३/१/११३

६. "तयाणंतरं च णं इच्छाविहिपरिमाण करेमाणे हिरण्णसुवण्णविहि परिमाणं करेइ—चउप्पयविहि परिमाणं करेइ—खेत्त वत्थुविहिपरिमाणं करेइ—सगडविहि-परिमाणं विहि करेइ—वाहणवीहि परिमाणं करेइ"
—उवासगदसाओ, १/२१ से २७

७. आवश्यकसूत्र—मुनिघासीलाल, पृष्ठ ३२४

भेद करके[1] बाह्य के खेत, अनाज, धन, मकान, ताँबा-पीतल आदि धातु, शय्या, आसन, दास-दासी, पशु एवं भोजन ये दस भेद किये हैं।[2] आन्तरिक परिग्रह के मिथ्यात्व, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, हास्य, शोक, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चौदह भेद किये हैं।[3] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में भी बाह्य तथा आभ्यन्तर दो भेद करके आभ्यन्तर के १४ भेद एवं बाह्य के सचित्तपरिग्रह और अचित्तपरिग्रह ये दो भेद किये हैं।[4] दास-दासी, गाय, भैंस आदि सचित्तपरिग्रह है, एवं मकान, बर्तन आदि अचित्तपरिग्रह हैं। यह दोनों ही प्रकार का परिग्रह हिंसा का अतिक्रमण नहीं करता है।

अपरिग्रह स्वरूप—

प्राचीन आगम ग्रन्थ उपासकदशांगसूत्र में उपरोक्त वर्णित परिग्रह के जो सात भेद बतलाये गये हैं उन्हीं के त्याग को अपरिग्रह या इच्छापरिमाणव्रत कहा है।[5] भगवतीआराधना में आभ्यन्तर तथा बाह्य रूप से सर्व प्रकार की ग्रन्थियों को मन, वचन, काय के द्वारा त्याग करने को अपरिग्रह कहा है।[6] रत्नकरण्डकश्रावकाचार में धन-धान्य आदि का परिग्रह परिमाण करके उससे अधिक में निःस्पृह रहने को परिमित परिग्रहव्रत कहा है।[7] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है कि जो पुरुष लोभ को जीतकर सन्तोष रूप रसायन में सन्तुष्ट रहता है, यह संसार की सर्ववस्तुओं को विनश्वर मानता हुआ अपने उपयोग को जानकर धन-धान्य आदि दस प्रकार से परिग्रह परिमाण करता है उससे पाँचवाँ अणुव्रत होता है।[8] उपासकाध्ययन में आचार्य सोमदेवसूरि ने बाह्य और आभ्यन्तर वस्तु में 'यह मेरी है' इस प्रकार के संकल्प को परिग्रह कहा है। उसके

१. उपासकाध्ययन, श्लोक ४३२
२. वही, श्लोक ४३३
३. वही, श्लोक ४३३
४. पुरुपार्थसिद्ध्युपाय, ११५-१६
५. उवासगदसाओ, १/१७ से २१
६. भगवतीआराधना, १११७
७. रत्नकरण्डकश्रावकाचार—श्लोक ३/६१
८. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३८-३९

विषय में चित्तवृत्ति को संकुचित करना अपरिग्रह है।[1] अमितगतिकृत श्रावकाचार में संतोष में कुशल गृहस्थ को मकान, खेत, धन-धान्य, दास-दासी, चौपाये एवं वासन-वस्त्रादि के सर्व प्रकार के परिग्रह का त्याग करने को परिग्रहपरिमाणव्रत कहा गया है।[2] सागारधर्मामृत में आशाधर ने उपासकाध्ययन का ही अनुसरण किया है।[3]

इस प्रकार परिग्रहपरिमाणव्रत के विभिन्न मतों पर दृष्टिपात करने पर हम पाते हैं कि पाँचवाँ अणुव्रत ग्रहण करने वाला व्यक्ति, धन, धान्य, खेत, वस्तु, द्विपद यानि दास-दासी एवं अधीनस्थ कार्यरत व्यक्ति, चतुष्पद याने गाय, वैल, भैंस, घोड़े आदि, कुविय धातु यानि ताँवा, पीतल आदि की सीमा निर्धारित कर लें। जिस प्रकार उपासकदशांगसूत्र में आनन्द श्रावक ने भी मर्यादा निश्चित की थी। उसने चार करोड़ स्वर्ण कोष में, चार करोड़ व्यापार में एवं चार करोड़ घर के वैभव में अपनी सम्पत्ति लगा रखी थी। शेष से निवृत्ति ग्रहण कर ली, जिससे वह उस सीमा के वाहर के वैभव से दोष मुक्त हो गया। इन दृश्यमान वस्तुओं के वाद श्रावक को मिथ्यात्व, भय, हास्य, शोक, रति, अरति, क्रोध, जुगुप्सा आदि आभ्यन्तर परिग्रह को भी सीमित करना होता है।

अतिचार—

उपासकदशांगसूत्र में कहा गया है कि इस व्रत में जो-जो मर्यादायें की गयी हैं, उनका उल्लंघन नहीं करना चाहिए। यहाँ पर इस व्रत के उल्लंघन की पाँच श्रेणियाँ निर्धारित की गयी है—

> "तयाणंतरं च णं इच्छापरिमाणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा। तंजहा-खेत्तवत्थुपमाणाइक्कमे, हिरण्ण-सुवण्णपमाणाइक्कमे, दुपयचउपय पमाणाइक्कमे, धनधान्य पमाणाइक्कमे, कुवियपमाणाइक्कमे"

अर्थात् क्षेत्र वस्तु की मर्यादा का अतिक्रमण, हिरण्य-सुवर्ण की मर्यादा का अतिक्रमण, धन-धान्य की मर्यादा का अतिक्रमण, कुवियधातु की मर्यादा का

१. उपासकाध्ययन, श्लोक ४३२
२. अमितगतिश्रावकाचार, ६/७३
३. सागारधर्मामृत, ४/५९

सीमोल्लंघन।[1] रत्नकरण्डकश्रावकाचार में अधिक वाहनों को रखना, अधिक वस्तुओं का संग्रह करना, दूसरों के लाभादिक को देखकर आश्चर्य करना, अधिक लोभ करना, घोड़े आदि को शक्ति से अधिक जोतना, लादना ये पाँच अतिचार माने गये हैं।[2] तत्त्वार्थसूत्र, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, अमितगतिश्रावकाचार एवं सागारधर्मामृत में उपासकदशांग सूत्रानुसार ही अतिचारों का वर्णन है।[3]

उपासकदशांगसूत्र में वर्णित अतिचारों को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

१. खेत्तवत्युपमाणाइक्कमे—

"क्षेत्रवस्तुनः प्रमाणातिक्रमः प्रत्याख्यानकाल गृहीत प्रमाणोल्लंघन-मित्यर्थः"

उपासकदशांगटीका में अभयदेव ने खेती आदि के लिए जितनी भूमि रखी है उस प्रमाण का उल्लंघन करना क्षेत्रवस्तुप्रमाणातिक्रम कहा है।[4] चारित्रसार में धान्य की उत्पत्ति के स्थान को क्षेत्र कहा है और रहने के घर को वास्तु बताया है। इनमें ग्रहण किये गये परिमाण से अधिक रखना इस अतिचार का स्वरूप माना है।[5] लाटीसंहिता में क्षेत्र रहने के स्थान को कहा है तथा जिसमें धान्य उत्पन्न होता है उसे भी क्षेत्र

---

१. उवासगदसाओ, १/४५

२. "अतिवाहनाति संग्रह विस्मय लोभातिभारवहनानि।
परिमित परिग्रहस्य च विक्षेपाः पञ्च लक्षणन्ते॥
—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ६२

३ क. तत्त्वार्थसूत्र, ७/२९
ख. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १८७
ग. अमितगतिश्रावकाचार, ७/७
घ. सागारधर्मामृत, ४/६४

४. उपासकदशांगटीका—अभयदेव, पृष्ठ ३४

५. "तत्र क्षेत्रं शस्याधिकरणम् वास्तु आगारम्"
—चारित्रसार, पृष्ठ २४१

कहा है और वस्त्र आदि सामान को वास्तु माना है।[1] इनके परिमाण से ज्यादा परिग्रह रखना अतिचार है।

२. धन-धान्यपमाणाइक्कमे—

"अनाभोगादेरथवा लभ्यमान धान्याद्यभिग्रहं यावत्परगेहएव वंधनवद्धं कृत्वा धारयतीति चारोयमिति"

उपासकदशांगटीका में अभयदेव ने सोना-चाँदी आदि धन एवं गेहूँ, चावल आदि धान का जो परिग्रह नियत किया, उसका उल्लंघन धनधान्यप्रमाणातिक्रम है।[2] चारित्रसार में गाय, भैंस आदि पशुओं को धन एवं गेहूँ आदि को धान्य कहा है, इनका परिमाण अतिक्रमण करना धनधान्यपमाणाइक्कमे माना है।[3] लाटीसंहिता में भी यही स्वरूप निर्देशित है।[4] धवलविन्दुमूलवृत्ति में गणिम, धरिम, मेय, परिच्छेद आदि चार प्रकार का धन है।[5] व्रीही, जौ, मसूर, गेहूँ, मूंग, उदड़, तिल, चना, अणुप्रियंग, कोद्रव, मकुष्ठ, शालि, आढकी, मटर, कुलत्थ, शण आदि सत्रह प्रकार का धान्य एवं धन इन दोनों के परिमाण का अतिक्रमण करने को अतिचार माना है।[6]

३. हिरण्णसुवण्णपमाणाइक्कमे—उपासकदशांगसूत्रटीका में आचार्य अभयदेव ने सोने और चाँदी की जितनी मर्यादा निश्चित की है, उसका उल्लंघन करने को हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम माना है।[7] चारित्रसार में

---

१. लाटीसंहिता, ५/९८ से १००

२. उपासकदशांगटीका—अभयदेव, पृष्ठ ३४

३. 'धनं गवादि, धान्यं व्रीहादि"

—चारित्रसार, २४१

४. लाटीसंहिता, ५/१०३-१०४

५. "तया धनं गणिमधरिम-मेय-परिच्छेद्यभेदाच्चतुर्विधम्। तत्र गणिमं पूगफलादि धरिमं गुडादि, मेयं घृतादि, परिच्छेद्यं माणिक्यादि, धान्यं व्रीहादि। एतत्प्रमाणस्यबन्धनतोऽतिक्रमोऽतिचारो भवति।

—धर्मविन्दुवृत्ति,—मुनिचन्द्रसूरि, ३/२७

६. जैन लक्षणावली, पृष्ठ ५६८

७. उपासकदशांगसूत्रटीका—आचार्य अभयदेव, पृष्ठ ३४

चाँदी के रुपये आदि सिक्के जिनसे लेन-देन का व्यवहार चलता है, हिरण्य तथा स्वर्ण को सुवण्ण कहते है। इनका अतिक्रमण करना अतिचार है।[1] लाटीसंहिता में हिरण्य का अर्थ हीरा, मोती, मानिक, आदि जवाहरात एवं सोना, चाँदी, तांवा, पीतल आदि को सुवर्ण माना है। इनका अतिक्रमण करना यह अतिचार है।[2]

४. दुपयचउपयपमाणाइक्कमे—चारित्रसार में सेविका स्त्री को दासी और सेवक पुरुषों को दास कहा है, यहाँ दुपय-चउपय की जगह दास-दासी नाम देकर उसी का स्वरूप दिया गया है।[3] लाटीसंहिता में भी यहीं नाम और स्वरूप वताया है।[4] वैसे सामान्यरूप से द्विपद का अर्थ दास-दासी और चतुष्पद का अर्थ पशुओं से लेना उपयुक्त है। इनका अतिक्रमण करना अतिचार कहलाता है।

५. कुवियपमाणाइक्कमे—

"कुप्यं गृहोपस्करणंफालकच्चोलकादिअयं चातिचारो नाभोगादिना"

उपासकदशांगसूत्रटीका में आचार्य अभयदेव ने ग्रहोपकरण, शय्या, आसन, वस्त्र की जो मर्यादा की है, उसका उल्लंघन करना कुविय प्रमाणातिक्रम है।[5] चारित्रसार में वस्त्र, कपास, कोशा, चन्दन, वर्तन आदि को कुप्य कहकर इनका अतिक्रमण करना कुवियपमाणाइक्कमे वताया है।[6] लाटीसंहिता में कुप्य शव्द का अर्थ वर्तन से लिया है। इनकी संख्या परिमाण का भी अतिक्रमण नहीं करना

---

१. क. 'हिरण्यं रुप्यादिव्यवहार प्रयोजनम् सुवर्ण विख्यातम्"
—चारित्रसार, पृष्ठ २४१

ख. सर्वार्थसिद्धि, ७/२९

ग. तत्त्वार्थवार्तिक, ७/२९

२. लाटीसंहिता, ५/१०१-१०२

३ "दासीदासं भृत्यस्त्रीपुरुषवर्गः"—चारित्रसार, २४१

४. लाटीसंहिता, ५/१०५-१०६

५. उपासकदशांगसूत्रटीका— आचार्य अभयदेव, पृष्ठ ३४

६. "कुप्यं क्षौमकापासकोशेयचन्दनादि" —चारित्रसार, २४१

चाहिये।[1] धर्मविन्दु में आसनशय्या आदि उपकरण को कुप्य और इनके प्रमाण अतिक्रमण को कुप्यप्रमाणातिक्रमण कहा है।[2]

रात्रिभोजन—

प्रायः सभी आचार्यों ने रात्रिभोजन के त्याग का उपदेश दिया है। उसका यह स्वरूप चाहे छठें अणुव्रत के रूप में रहा हो, चाहे स्वतन्त्र रूप में इसको वर्णित किया गया हो या चाहे ग्यारह प्रकार के श्रावकों एवं प्रतिमाओं में स्थान दिया गया हो। आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्रपाहुड में ग्यारह प्रकार के संयमाचरण में रात्रिभोजन त्याग को भी स्थान दिया है।[3] स्वामीकार्तिकेय ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है कि जो ज्ञानी पुरुष चारों ही प्रकार के आहार को रात्रि में न स्वयं खाता है, न दूसरों को खिलाता है, वह रात्रिभोजन प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है।[4] आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है कि रात्रि में भोजन करने वालों से अनिवार्य रूप से हिंसा होती है अतः रात्रिभोजन को त्यागना चाहिए।[5] अमितगतिश्रावकाचार में कहा है कि संयम का विनाशक, जीते-जागते जीवों को खाने की संभावना वाले, ऐसे महादोषों के आलयभूत रात्रि के समय भोजन नहीं करना चाहिये।[6] सागारधर्मामृत में पं० आशाधर ने कहा है कि लोक कल्याण के इच्छुक जैन श्रावक को रात्रि में भोजन नहीं करना चाहिये।[7] लाटीसंहिता में भी रात्रिभोजन त्याग का उपदेश दिया है।[8]

इस प्रकार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच अणुव्रतों को श्रावक अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य के अनुसार दो करण और

---

१. लाटीसंहिता, ५/१०७
२. "तथा कुप्यं आसन शयनादि गृहोपस्करं तस्य यन्मानं तस्य पर्यायान्तरा रोपणनाति क्रमोऽतिचारो भवति—धर्मविन्दु, ३/२७
३. चारित्रपाहुड—(अष्टपाहुड)—आचार्य कुन्दकुन्द, २२
४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ८१
५. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १२९
६. अमितगतिश्रावकाचार, ५/४०-४२
७. सागारधर्मामृत, ४/२७
८. लाटीसंहिता, १/३८

तीन योग से पालन करता है, अर्थात् वह मन-वचन व शरीर से न तो हिंसा, झूठ आदि बोलता है, और न ही दूसरों से बुलवाता है। अहिंसा अणुव्रत में स्थूल हिंसा का, सत्याणुव्रत में स्थूल असत्य का, अचौर्याणुव्रत में स्थूल चोरी का त्याग करता है। ब्रह्मचर्य-अणुव्रत में अपनी पत्नी को छोड़कर अन्य का परित्याग करता है। अपरिग्रहअणुव्रत में २१ या २६ बोलों (वस्तुओं) की मर्यादा करता है। साथ ही प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचार रूप दोषों को ध्यान में रखता है, जिससे व्रत किंचित् मात्र भी स्खलित नहीं हों।

इन पाँचों अणुव्रतों की पालना के साथ-साथ श्रावक पाँच उदुम्बरों तथा मद्य, मांस व मधु इन आठ मूलगुणों का भी त्याग करता है, जो धार्मिकता के विरुद्ध होने के साथ-साथ मानव को विकृत और वहशी बनाते हैं। रात्रिभोजन त्याग की महत्ता इसी से आंकी जा सकती है कि इसे छठा अणुव्रत मानकर कई आचार्यों ने वर्णित किया है।

ये अणुव्रत और मूलगुण जहाँ एक ओर धार्मिक सिद्धान्तों की ओर अपना ध्यान आकृष्ट करते हैं, वहीं दूसरी ओर सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक व्यवस्था को यथारीति से चलाने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। सहअस्तित्व एवं समाजवाद की दिशा में इन व्रतों का पालन महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इन अणुव्रतों को परिपुष्ट और उन्नत बनाने के लिए गुणव्रतों एवं शिक्षाव्रतों का भी विधान किया गया है, जो व्यक्ति को नियमित, संयमित, त्याग और दान की ओर प्रेरित करते हैं।

गुणव्रत शब्द का अर्थ, स्वरूप एवं वर्गीकरण

अणुव्रतों के विकासक्रम को व्यवस्थित आधार प्रदान करने के लिये जैन दर्शन में गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का विधान किया गया है। वस्तुतः अणुव्रतों द्वारा आत्मविकास में उत्पन्न कठिनाइयों को गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत ही दूर करते हैं एवं उनमें नवीन शक्ति की उद्भावना करते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र का कहना है कि जैसे परकोटे नगर की रक्षा करते हैं उसी प्रकार शीलव्रत अणुव्रतों की रक्षा करते हैं।[1] यहाँ शीलव्रत का

---

१. परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि"

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १३६

तात्पर्य गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत से है। दोनों के संयुक्त रूप को शीलव्रत की अभिधा प्रदान की गई है। संख्या की दृष्टि से गुणव्रत तीन और शिक्षाव्रत चार माने गये हैं।

उपासकदशांगसूत्र में गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों को संयुक्त रूप से सात शिक्षाव्रत कहा है।[1] उपासकदशांगटीका में व्रतों को सहायता पहुँचाने वाले को गुणव्रत की संज्ञा प्रदान की गई है एवं परमपद को प्राप्त करने की कारणभूत क्रिया को शिक्षा और उसके लिए प्रधानव्रत को शिक्षाव्रत मान लिया है[2], जिनके क्रमशः तीन और चार भेद किये हैं। यहाँ यह विवादास्पद कथन करने का उद्देश्य स्पष्ट नहीं हो पाया है। इन सातों व्रतों के स्वरूप-वर्णन में भी उपासकदशांगसूत्र में भोगोपभोग परिमाणव्रत तथा अनर्थदण्ड का ही वर्णन किया गया है, शेष व्रतों के लिए कोई संकेत नहीं दिया गया है। केवल उनके अतिचारों के वर्णन करने से इनके अस्तित्व का पता चलता है। वैसे गुणव्रतों एवं शिक्षाव्रतों के नामों और उनके क्रमों में पर्याप्त अन्तर प्रतीत होता है। किसी ने उसको गुणव्रत माना है तो उसी को किसी ने शिक्षाव्रत माना है।

तीन गुणव्रतों एवं चार शिक्षाव्रतों में दिग्व्रत तथा अनर्थदण्ड को गुणव्रत एवं अतिथिसंविभाग को शिक्षाव्रत सभी ग्रन्थकारों द्वारा मान्य है।

सामायिक और प्रोषधोपवास व्रत को 'वसुनन्दिश्रावकाचार' को छोड़कर सबने शिक्षाव्रतों में सम्मिलित किया है।

व्रतों की विभिन्न शाखाओं में देशव्रत, भोगोपभोगपरिमाणव्रत एवं सल्लेखना के बारे में पर्याप्त मतभेद रहा है। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'चारित्र-पाहुड' में भोगोपभोगपरिमाण को गुणव्रत और सल्लेखना को शिक्षाव्रत

---

१. "अहं णं देवाणुप्पियाणं पंचाणुव्वइयं सत्त सिक्खावइयं दुवालसविहं गिहि धम्मं पडिवज्जिसामि" —उवासगदसाओ, १/१२

२. क. "व्रतान्तरपरिपालनेन साधकमतानि व्रतानि गुणव्रतान्युच्यन्ते" —उपासकदशांगटीका–मुनि घासीलाल, पृ० २३२

ख. "परमपदप्राप्तिसाधनीभूता क्रिया तस्यै" —उपासकदशांगटीका–मुनि घासीलाल, पृ० २४४

माना है।[1] आचार्य उमास्वाति ने 'तत्त्वार्थसूत्र' में देशव्रत को गुणव्रत एवं भोगोपभोगपरिमाण को शिक्षाव्रतों में स्थान दिया है। वैसे इन्होंने सभी को व्रत ही कहा है।[2] 'रत्नकरण्डकश्रावकाचार' में दिग्व्रत, अनर्थदण्ड और भोगोपभोगपरिमाण को गुणव्रत तथा देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास, वैयावृत्य को शिक्षाव्रत कहा है।[3] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में रत्नकरण्डकश्रावकाचार का अनुसरण कर देशावकाशिक व्रत के क्रम को पहले की जगह चौथा स्थान दिया है।[4] आचार्य वसुनन्दि ने अपने श्रावकाचार में भोगविरति तथा उपभोगविरति दोनों को अलग-अलग कर शिक्षाव्रतों में स्थान दिया है।[5] जहाँ तक सल्लेखना का प्रश्न है आचार्य-कुन्दकुन्द ने चारित्रपाहुड तथा आचार्य वसुनन्दि ने श्रावकाचार में चौथा शिक्षाव्रत माना है।[6] परन्तु उपासकदशांगसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्डकश्रावकाचार और कार्तिकेयानुप्रेक्षा में सल्लेखना को व्रतों के वाद वर्णित किया है।[7]

इस प्रकार विभिन्न ग्रन्थों में गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का जो क्रम वर्णित है, उसका स्पष्टीकरण आगे के पृष्ठ पर प्रस्तुत प्रारूप (चार्ट) से हो जाता है :—

---

१. दिसिविदिसिमाण पढमं अणत्थदण्डस्स वज्जणं विदियं।
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि॥
सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं।
तइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते॥
—चारित्रपाहुड (अष्टपाहुड), गाथा २५,२६

२. "दिग्देशानर्थदण्डविरति-सामायिक-प्रोषधोपवासोपभोग-परिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रत सम्पन्नश्च" —तत्त्वार्थसूत्र, ७/२१

३. क. दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम्।
—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ४/१
ख. देशावकाशिकं वा सामायिकं प्रोषधोपवासो वा।
वैयावृत्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ५/१

४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ६६

५. वसुनन्दि-श्रावकाचार, २१७-२१८

६. क. चारित्रपाहुड, (अष्टपाहुड), २५; ख. वसुनन्दिश्रावकाचार, २७१-२७२

७. क. उवासगदसाओ, १/५४ ग. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ६/१२२
ख. तत्त्वार्थसूत्र, ७/२२ घ. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ९१

विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित क्रम

	गुणव्रत			शिक्षाव्रत			
	१	२	३	१	२	३	४
उपासकदशांगसूत्र श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र श्रावकप्रज्ञप्ति योगशास्त्र	दिग्व्रत	उपभोगपरि-भोगपरिमा-णव्रत	अनर्थदण्ड	सामायिक	देशावकाशिक	प्रोषध	अतिथि संवि-भाग व्रत
उमास्वाति-तत्त्वार्थसूत्र	दिग्व्रत	देशव्रत	अनर्थदण्ड	सामायिक	प्रोषधोपवास	उपभोग-परिभोग	अतिथि संवि-भाग व्रत
कुन्दकुन्द-चारित्रपाहुड	दिग्व्रत	अनर्थदण्ड	भोगोपभोग	सामायिक	प्रोषधोपवास	अतिथि संविभाग	सल्लेखना
तत्त्वार्थसूत्र-दि० पुरुषार्थसिद्धयुपाय उपासकाध्ययन अमितगतिश्रावकाचार	दिग्व्रत	देशव्रत	अनर्थदण्ड	सामायिक	प्रोषधोपवास	भोगोपभोग परिमाण	अतिथि संवि-भाग व्रत
रत्नकरण्डकश्रावकाचार सागारधर्मामृत	दिग्व्रत	अनर्थदण्ड	भोगोपभोग	देशव्रत	सामायिक	प्रोषधोपवास	वैयावृत्य
कार्तिकेयानुप्रेक्षा	दिग्व्रत	अनर्थदण्ड	भोगोपभोग	सामायिक	प्रोषधोपवास	अतिथि संविभाग	देशव्रत
वसुनन्दिश्रावकाचार	दिग्व्रत	देशव्रत	अनर्थदण्ड	भोगविरति	परिभोग विरति	अतिथि संविभाग	सल्लेखना

विभिन्न गुणव्रत व अतिचार

इस प्रकार विभिन्न आचार्यों द्वारा वर्णित गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों के क्रम में चाहे जो परिवर्तन रहा हो, परन्तु स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद नहीं है।

गुणव्रत—

मूलव्रतों (अणुव्रतों) की यथोचित परिपालना एवं उन्नति के लिए गुणव्रतों का निर्माण कर उसमें दिग्व्रत, उपभोगपरिभोग तथा अनर्थदण्ड को सम्मिलित किया गया है। ये अणुव्रतों में गुणों का विकास करने में सहायक सिद्ध होते हैं। इनका क्रमशः संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है :—

दिग्व्रत—इस दिग्व्रत को सभी आचार्यों ने गुणव्रत माना है। उपासकदशांगसूत्र में इसके स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा है। इसकी टीका में इसके स्वरूप के वारे में कहा है कि पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं में 'मैं' इतना दूर तक नहीं जाऊँगा तथा इससे आगे नहीं जाऊँगा, इस प्रकार दिशाओं की मर्यादा कर लेना दिग्व्रत है।[1] आवश्यकसूत्र में वारह व्रतों के अतिचारों के पाठ में ऊर्ध्व, अधो एवं तिर्यक् दिशा का यथापरिमाण तथा पाँच आश्रव सेवन के त्याग को दिग्व्रत कहा है।[2] रत्नकरण्डकश्रावकाचार में दसों दिशाओं की मर्यादा करके सूक्ष्म पापों की निवृत्ति के लिए "मैं इससे वाहर नहीं जाऊँगा" इस प्रकार का मरणपर्यन्त तक के लिए संकल्प दिग्व्रत कहा है।[3] रत्नकरण्डकश्रावकाचार में नामोल्लेखित

---

१. "मज्जाया गमणे होइ, पुव्वाइसु दिसासु जा।
एयं सिया दिसिवयं तिविहं तं च कित्तिय॥
—उपासकदशांगसूत्रटीका-मुनि घासीलाल पृ० २३५

२. "छठा दिशिव्रत-उड्ढदिशि का यथापरिमाण, अहोदिशि का यथापरिमाण, तिरियदिशि का यथापरिमाण एवं आगे जाकर पाँच आश्रव सेवन का पच्चक्खाण।" —आवश्यकसूत्र ६

३. क. "दिग्वलयं परिगणितं कृत्वाऽतोऽहं वहिर्न यास्यामि।
इति सङ्कल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै॥
—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ६८

दसोंदिशाओं के नाम चामुण्डाचार्य के चारित्रसार में स्पष्ट रूप से मिलते हैं। इन पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, उर्ध्व दिशा, अधोदिशा एवं चार विदिशाओं जिनमें ईशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य आदि की मर्यादा प्रसिद्ध समुद्र, अटवी, पर्वत तथा योजनों के रूप में कर लेनी चाहिए। यह मर्यादा करना ही दिग्व्रत है।[1] इसके सिवाय अन्य किसी में दसों दिशाओं के नाम नहीं दिए गए हैं। उपर्युक्त मर्यादा को सभी ने प्रतिपादित किया है।[2]

अतिचार

दिग्व्रत के पाँच अतिचार आचार्यों ने प्रतिपादित किए हैं। उपासकदशांगसूत्र, श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्रावकप्रज्ञप्ति, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, चारित्रसार, योगशास्त्र, अमितगति श्रावकाचार, सागारधर्मामृत में उर्ध्वदिशा का प्रमाणातिक्रम, अधोदिशा का प्रमाणातिक्रम, तिर्यक्‌दिशा का प्रमाणातिक्रम, क्षेत्र वृद्धि तथा दिशा की मर्यादा की स्मृति नहीं रखना, यह पाँच अतिचार बतलाये गये हैं।[3]

ख. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४०, ४१
ग. श्रावकप्रज्ञप्ति, २८०
घ. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, १३७, १३८
ङ. उपासकाध्ययन, ७/४१५
च. अमितगतिश्रावकाचार, ६/७७
छ. योगशास्त्र, ३/१
ज. वसुनन्दिश्रावकाचार, २१४
झ. सागारधर्मामृत, ५/२

१. "तत्रप्राची अपाची उदीची प्रतीची उर्ध्व अधोविदिशश्चेति"
—चरित्रासार-शीलसप्तक वर्णन

२. क. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ६९
ख. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, १३७
ग. वसुनन्दिश्रावकाचार, २१४
घ. सर्वार्थसिद्धि, ७/२१

३. क. "उड्ढदिसिपमाणाइक्कमे, अहोदिसिपमाणाइक्कमे, तिरियदिसिपमाणाइक्कमे, खेत्तवुड्ढी, सइअंतरद्धा"
—उवासगदसाओ, १/५०

उपासकदशांग में वर्णित दिग्व्रत के पाँच अतिचारों का खुलासा इस प्रकार है :—

१. ऊर्ध्वदिशापरिमाणअतिक्रमण-उपासकदशांगसूत्रटीका में आचार्य अभयदेव ने—

"उड्दिसिपमाणातिक्कमे, उड्ढदिसाइक्कमे"

उक्त दोनों शब्दों का सामान्य अर्थ ऊर्ध्व दिशा की मर्यादा का उल्लंघन करना कहा है।[1] श्रावप्रज्ञप्तिटीका में ऊर्ध्वदिशा में पर्वत आदि के ऊपर जितने कोस तक जाने का प्रमाण स्वीकृत किया है, उसका उल्लंघन करना प्रथम ऊर्ध्वदिशातिक्रम है।[2] योगशास्त्र स्वोपज्ञटीका में भी ऊँचे पर्वत, वृक्ष, शिखर पर जाने के नियम का उल्लंघन करने को यह अतिचार कहा है।[3]

२. अधोदिशायथापरिमाणअतिक्रमण–सर्वार्थसिद्धि में कूप एवं वावडी आदि में नीचे उतरने की स्वीकृत सीमा के उल्लंघन को अधोदिशायथापरिमाण कहा है।[4] चारित्रसार, तत्त्वार्थवार्तिक आदि में भी यही स्वरूप

ख. श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र, अणुव्रत, ६
ग. तत्त्वार्थसूत्र ७/२५
घ. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ४/७३
ङ. श्रावकप्रज्ञप्ति, २८३
च. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, १८८
छ. चारित्रसार (श्रावकाचार संग्रह) पृष्ठ २४२
ज. योगशास्त्र, ३/९६
झ. अमितगतिश्रावकाचार, ७/८
ञ. सागारधर्मामृत, ५/५

१. उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ३६
२. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, २८३, पृष्ठ १६७
३. "तथा ऊर्ध्वं पर्वत-तरु-शिखरादेः.......... योऽसौभागो नियमितः प्रदेशः तस्य व्यतिक्रमः"
—योगशास्त्र स्वोपज्ञविवरणिका, ३/९७
४. "कूपावतरणदेरधो-ऽतिक्रम"—सर्वार्थसिद्धि, ७/३०

स्वीकृत है।[१] डॉ० दयानन्द भार्गव ने अपनी पुस्तक में कुएं या मकान के तहखाने में जाने की स्वीकृत सीमा के उल्लंघन को अधोदिशाप्रमाणातिक्रम कहा है।[२]

३. तिर्यक्‌दिशायथापरिमाण-अतिक्रमण—सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक तथा चारित्रसार में भूमिगत बिल तथा पर्वत की गुफा आदि में प्रवेश करके दिग्व्रत की सीमा का उल्लंघन करना तिर्यक्‌प्रमाणातिक्रम कहा है।[३] डॉ० दयानन्द भार्गव ने किसी यात्रा में दिशा की सीमा का उल्लंघन इस अतिचार में गिना है।[४]

४. क्षेत्रवृद्धि—उपासकदशांगसूत्र टीका में आचार्य अभयदेव ने उदाहरण सहित बताया है कि दो विभिन्न दिशाओं की, जो मर्यादा की है, उसमें एक दिशा से दूसरी दिशा में क्षेत्र सीमा बढ़ाकर परिवर्तन करना क्षेत्रवृद्धि है।[५] श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में स्वीकृत क्षेत्र के बढ़ा लेने को क्षेत्र-वृद्धि कहा है।[६] चारित्रसार में पहले दिशाओं की योजन आदि के द्वारा जो मर्यादा की है उसमें पुनः लोभवश उससे अधिक की आकांक्षा रखना क्षेत्रवृद्धि माना है।[७]

---

१. क. चारित्रसार (श्रावकाचार संग्रह) पृष्ठ २४२
   ख. तत्त्वार्थवार्तिक, ७/३/३

२. भार्गव, दयानंन्द, जैन इथिक्स, पृष्ठ १२६

३. क. "विल प्रवेशा देस्तिर्यगतिक्रम"—सर्वार्थसिद्धि ७/३०
   ख. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ७/३०
   ग. "भूमि विलगिरिदरी प्रवेशादिस्तिर्यगतिक्रम"—चारित्रसार, पृष्ठ ८

४. भार्गव, दयानंद, जैन इथिक्स, पेज १२६

५. "एकतो योजन शतपरिमाणमभिगृहीतमन्यतो दस योजनान्यभिगृहीतानि, ततश्च यस्यां दिशि दस योजनानि तस्यां दिशि समुत्पन्ने कार्ये योजनशतमध्यादपनीयान्यानि दस योजनानि तत्रैव स्वबुद्ध्या प्रक्षिपति संवर्धयत्येकत इत्यर्थः। अयं चातिचारो व्रत सापेक्षत्वादवसेयः"

—उपासकदशांगसूत्रटीका-अभयदेव, पृष्ठ ३६

६. श्रावकप्रज्ञप्ति टीका, पृष्ठ १६७

७. चारित्रसार (श्रावकाचार संग्रह) पृष्ठ २४३

५. स्मृत्यन्तरद्धा—उपासकदशांगसूत्रटीका में आचार्य अभयदेव ने स्मृत्यन्तर्धान शब्द देकर इसका अर्थ मर्यादा का विस्मृत होना किया है। इस प्रकार का सन्देह होना कि मैंने सौ योजन की मर्यादा की है अथवा पचास योजन की। इसके विस्मृत होने पर पचास योजन से बाहर जानेपर भी दोष लगता है चाहे मर्यादा सौ योजन की रखी हो।[1] तत्त्वार्थभाष्य, सर्वार्थसिद्धि आदि में नियत सीमा का कहाँ तक कितना प्रमाण किया है, वह अज्ञान एवं प्रमादवश भूल जाना अर्थ किया है।[2] श्रावकप्रज्ञप्ति-टीका, चारित्रसार तथा लाटीसंहिता में भी वही स्वरूप प्रतिपादित है, जो तत्त्वार्थभाष्य में है।[3]

दिग्व्रत में व्यक्ति अपने गमनागमन की दिशाओं की एक निश्चित दूरी की सीमा निर्धारित कर लेता है, जिससे उसके बाहर की सीमा में होने वाले कार्यों का दोष नहीं लगता है। वह मर्यादा व्यक्ति की सामर्थ्यानुसार होती है। इसमें ऊँची, नीची, तिरछी दिशा में मर्यादा से आगे जाना, क्षेत्र बढ़ाना एवं क्षेत्र की मर्यादा का ध्यान नहीं रखना, पांच दोष हैं, जिनसे बचना जरूरी होता है।

उपभोगपरिभोग परिमाण व्रत—

जो वस्तुएं एक बार काम में आती हैं उसे उपभोग तथा जो वस्तुएं बार-बार काम में आती हैं उसे परिभोग कहा है। इसके विपरीत कहीं-कहीं पर एक बार काम में आने वाली को परिभोग तथा बार-बार

---

१. "स्मृत्यन्तर्धा-स्मृत्यन्तर्धानं स्मृतिभ्रंशः। किं मया व्रतं गृहीतं शतमर्यादया पंचाशन्मर्यादया वा। इत्येवमस्मरणे योजनशत मर्यादायामपि पञ्चाशतमतिक्रामतोऽयमतिचारोऽवसेय इति"

—उपासकदशांगसूत्रटीका-अभयदेव, पृष्ठ ३७

२. क. "स्मृत्यन्तर्धानं नाम स्मृतेर्भ्रंशोऽन्तर्धानमीति"—तत्त्वार्थभाष्य, ७/२५

ख. "अननुस्मरणं स्मृत्यन्तराधानम्"—सर्वार्थसिद्धि, ७/३०

३. क. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका-२८३, पृष्ठ १६७

ख. चारित्रसार (श्रावकाचारसंग्रह), पृष्ठ २४३

ग. लाटीसंहिता, ५/१२१

काम में आने वाली को उपभोग कहा है ।[1] श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में "उप-भुज्यते इति उपभोगः" इस निरुक्ति के अनुसार एक वार भोगा जानेवाला पदार्थ एवं "परिभुज्यते इति परिभोगः" इस निरुक्ति से बार-बार भोगे जाने वाले पदार्थ को क्रमशः उपभोग और परिभोग कहा है ।[2] इन दोनों की मर्यादा निश्चित करना ही उपासकदशांगसूत्र में उपभोग-परिभोग परिमाण-व्रत माना है । यहाँ इक्कीस वस्तुओं के परिमाण को भी निश्चित करने के लिए कहा है ।[3] श्रावक प्रतिक्रमणसूत्र में श्रावक को छव्वीस वस्तुओं के परिमाण को निश्चित करने के लिए कहा है ।[4] रत्नकरण्डकश्रावकाचार में पांच इन्द्रियों के विषयभूत भोजन-वस्त्र आदि जो एक वार भोगकर छोड़ दिए जायें उसे भोग तथा जो एक वार भोग कर भी पुनः भोगे जाएं उसे उपभोग कहा है ।[5] सागारधर्मामृत, प्रश्नोत्तरश्रावकाचार आदि ग्रन्थों में भी रत्नकरण्डकश्रावकाचार के अनुसार ही भोग-उपभोग को व्याख्यायित किया है ।[6] इस भोग तथा परिभोग या उपभोग तथा परिभोग की मर्यादा को निश्चित करना ही उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत कहा जाता है ।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में सातवें व्रत का नाम उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत कहा है ।[7] परन्तु दिगम्बर ग्रन्थों में इसका नाम भोगोपभोगपरिमाणव्रत

---

१. "उवभोग परिभोग त्ति—उपभुज्यते पौनः पुन्येन सेव्यत इत्युपभोगो भवन वसनवनितादिः । परिभुज्यत इति परिभोगः आहारकुसुमविलेपनादिः"
—उपासकदशांगसूत्रटीका—आत्माराम, पृ० ३२

२. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका—हरिभद्र, पृ० १६८

३. उवासगदसाओ, २२ से ३८

४. श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र, अणुव्रत, ७

५. क. भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः ।
—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ८३

ख. उपासकाध्ययन, ७२७

६. क. सागारधर्मामृत, ५/१३-१४
ख. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, १७/८९-९०

७. क. उवासगदसाओ, १/२२ से ३८
ख. श्रावकप्रज्ञप्ति

कहा है।[1] वैसे नाम से ही इसमें परिवर्तन है, इसके स्वरूप में अन्तर नहीं है। दिगम्वर ग्रन्थों में एक बार भोगे जाने वाले को भोग एवं वार-बार काम आने वाले पदार्थों को उपभोग कहा है।

उपासकदशांगसूत्र में उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत में इक्कीस वस्तुओं की मर्यादा निश्चित की है, जिनके त्याग से इसका परिपालन हो सके। इन इक्कीस वस्तुओं का विवरण क्रमशः इस प्रकार है :—

१. **उदद्रवणिका विधि**—इसमें स्नान के वाद शरीर पोंछने में काम आने वाले तौलिए की मर्यादा की जाती है।[2]

२. **दन्तधावन विधि**—इसमें दाँतों को साफ करने के प्रसङ्ग से एक-दो दातुन के सिवाय सवका प्रत्याख्यान (त्याग) किया गया है।[3]

३. **फल विधि**—इसमें फलों में एक-दो को छोड़कर वाकी फलों का त्याग किया गया है।[4]

४. **अभ्यङ्गन विधि**—इसमें मालिश करने के तेलों की मर्यादा निश्चित की है।[5]

५. **उद्वर्तन विधि**—इसमें शरीर पर लगाई जाने वाली उवटन की मर्यादा निश्चित की गई है।[6]

६. **स्नान विधि**—इसमें स्नान के लिए पानी की मर्यादा निश्चित की गई है।[7]

---

१. क. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ८३
   ख. अमितगतिश्रावकाचार, ६/९३
   ग. योगशास्त्र, ३/५

२. उवासगदसाओ, १/२२

३. उवासगदसाओ, १/२३

४. वही, १/२४

५. वही, १/२५

६. वही, १/२६

७, वही, १/२७

७. **वस्त्र विधि**—इसमें किसी विशेष सूत के बने हुए कपड़ों की मर्यादा निश्चित की है।[1]

८. **विलेपन विधि**—इसमें शरीर पर चन्दन आदि से लेप करने वाली वस्तुओं की मर्यादा की गई है।[2]

९. **पुष्प विधि**—इसमें शरीर पर धारण करने की माला में विशेष प्रकार के पुष्पों की मर्यादा का वर्णन है।[3]

१०. **आभरण विधि**—शरीर को सुशोभित करने वाले अलंकारों की मर्यादा निश्चित की गई है।[4]

११. **धूप विधि**—अगरबत्ती आदि धूपनीय वस्तुओं की मर्यादा निश्चित की गई है।[5]

१२. **भोजन विधि**—इसमें भोजन के साथ पेय पदार्थों की भी मर्यादा निश्चित की गई है।[6]

१३. **भक्ष्य विधि**—इसमें खाने योग्य मिठाई की मर्यादा निश्चित की गई है।[7]

१४. **ओदण विधि**—इसमें चावल की मर्यादा निश्चित की गई है।[8]

१५. **सूप विधि**—इसमें पीने योग्य, दाल, मटर, मूँग, आदि के सूप की मर्यादा निश्चित की गई है।[9]

१६. **घृत विधि**—इसमें घी की मर्यादा निश्चित है।[10]

---

१. उवासगदसाओ, १/२८
२. वही, १/२९
३. वही, १/३०
४. वही, १/३१
५. वही, १/३२
६. वही, १/३३
७. वही, १/३४
८. वही, १/३५
९. वही, १/३६
१०. वही, १/३७

१७. **शाक विधि**—इसमें खाने की हरी सब्जियों की मर्यादा है।[1]

१८. **माधुर विधि**—माधुर यानि गुड़, शक्कर आदि की मर्यादा निश्चित की गई है।[2]

१९. **जेमन विधि**—इसमें व्यञ्जन विधि अर्थात् व्यञ्जनों की मर्यादा निश्चित की है।[3]

२०. **पानीय विधि**—इसमें पीने के पानी की मर्यादा की है।[4]

२१. **ताम्बूल विधि**—इसमें मुख शुद्धि के लिए पान आदि की मर्यादा की है।[5]

श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र में छव्वीस बोलों के द्वारा उपभोग-परिभोग की मर्यादा निश्चित की गई है। जिसमें उपरोक्त इक्कीस पदार्थों को तो माना ही है, साथ ही वाहन विधि, उवाहण विधि, सयण विधि, सचित्त विधि, द्रव्य विधि की भी मर्यादा का विधान है, जिनके केवल नाम ही गिनाये हैं।[6] रत्नकरण्डकश्रावकाचार आदि ग्रन्थों में परिग्रहपरिमाण-व्रत में दी हुई मर्यादा के भीतर राग और आसक्ति को कृश करने के लिए प्रयोजनभूत इन्द्रियों के विषयों की संख्या को सीमित करने को भोगोपभोगपरिमाणव्रत कहा है।[7] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में, जो अपने चित्त एवं शक्ति के अनुसार भोग एवं उपभोग वस्तु का परिमाण निश्चित करता है,

---

१. उवासगदसाओ, १/३८
२. वही, १/३९
३. वही, १/४०
४. वही, १/४१
५. वही, १/४२
६. ....मुखवासविहि, वाहणविहि, उवाहणविहि, सयणविहि, सचित्तविहि, दव्वविहि।

—श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र, अणुव्रत, ७

७. क. अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम्।
अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये॥

—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ४/८२

ख. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १६५-१६६

वही भोगोपभोगपरिमाणव्रत का धारी है, ऐसा कहा है।[1] आचार्य वसुनन्दि ने अपने श्रावकाचार में भोग व परिभोग को अलग-अलग करके दो अलग-अलग व्रत माने हैं। यहाँ शारीरिक शृंगार, ताम्बूल, गंध एवं पुष्पादि का जो परिमाण किया जाता है, उसे भोग विरति एवं अपनी शक्ति के अनुसार स्त्री सेवन एवं वस्त्राभूषण का जो परिमाण किया जाता है, उसे परिभोगविरति नामक व्रत माना है।[2]

जिस प्रकार उपासकदशांगसूत्र में भोगोपभोग के इक्कीस एवं श्रावक-प्रतिक्रमणसूत्र में छब्बीस प्रकार की वस्तुओं का त्याग किया गया है, वह तो पदार्थों के रूप से वर्णित है, परन्तु दिगम्बर श्रावकाचार ग्रन्थों में यम एवं नियम दो प्रकार से त्याग का विधान है। इन ग्रन्थों में अल्पकाल के लिये जो त्याग किया जाता है उसे नियम और यावज्जीवन के लिए जो त्याग किया जाता है, वह यम कहलाता है।[3] सर्वार्थसिद्धि में उपभोग-परिभोग के तीन प्रकार बताये गये हैं :—(१) दिन, रात, पक्ष, मास, दो मास, छः मास, एक वर्ष आदि। (२) भोजन, वाहन, शयन, स्नान, केसर आदि विलेपन। (३) पुष्प, वस्त्र, आभूषण कामसेवन, गतिश्रवण आदि।[4]

अतिचार—

इस व्रत के भी पांच अतिचार हैं। उपासकदशांगसूत्र एवं श्रावक-प्रज्ञप्ति में उपभोगपरिभोग के दो प्रकार माने हैं। यहाँ ये दोनों रूप अतिचारों के वर्णन के साथ बताये हैं। इसमें पहला भोजन से तथा दूसरा कर्म से सम्बन्धित है। भोजन सम्बन्धी परिमाणव्रत के पाँच अतिचार माने हैं। यथा—

---

१. क. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४९
 ख. अमितगतिश्रावकाचार, ६/९२

२. वसुनन्दिश्रावकाचार, २१७-२१८

३. क. "नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारे।
 नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥
 —रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ८७
 ख. उपासकाध्ययन, ७२८
 ग. सागारधर्मामृत, ५/१४

४. सर्वार्थसिद्धि, ७/२१

"सचित्ताहारे, सचित्तपडिबद्धाहारे, अप्पउलिओसहिभक्खणया, दुप्पउलिओसहिभक्खणया, तुच्छोसहिभक्खणया"

अर्थात् सचित्तवस्तु खाना, सचित्त के साथ सटी हुई वस्तु खाना, कच्ची वनस्पति खाना, पूरी न पकी हुई वनस्पति खाना।[1]

रत्नकरण्डकश्रावकाचार में विषयरूप के सेवन से उपेक्षा नहीं करना, पूर्व में भोगे गये विषयों का बार-बार स्मरण करना, वर्तमान विषय में अति लोलुपता रखना, भविष्य में विषय सेवन की अति तृष्णा रखना, नियतकाल में भोगों को अधिक भोगना इस व्रत के पांच अतिचार माने हैं।[2]

तत्त्वार्थसूत्र, पुरुषार्थसिद्धयुपाय एवं अमितगतिश्रावकाचार में सचित्त आहार, सचित्तसम्बन्धआहार, सचित्त समिश्र आहार, इन्द्रियों को मंद करने वाली वस्तु, ठीक रीति से नहीं पके हुए भोजन को करना, ये पाँच अतिचार माने हैं।[3]

१. **सचित्तआहार**—श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में कन्दमूलादि जो चेतना सहित होते हैं, उसे सचित्त आहार कहा है।[4] सर्वार्थसिद्धि और लाटी संहिता में भी यही स्वरूप प्रतिपादित किया है।[5]

२. **सचित्तप्रतिवद्धआहार**—श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, लाटीसंहिता, सर्वार्थसिद्धि

---

१. क. "उवभोग परिभोगे दुविहे पण्णत्ते तंजहा-भोयणओ य कम्मओ य तत्थणं भोयणओ समणोवासएणं पंच अइयारा।

—उवासगदसाओ, १/५१

ख. श्रावकप्रज्ञप्ति, २८६

२. "विपयविपतोऽनुपेक्षाऽनुस्मृतिरतिलौल्यमतितृपानुभवौ।
भोगोपभोग परिमाव्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते॥

—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ३/९०

३. क. तत्त्वार्थसूत्र, ७/३५ ख. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, १९३
ग. अमितगतिश्रावकाचार, ७/१३

४. "सचित्ताहारं खलु सचेतनं मूल कन्दादिकम्-"श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, २८६

५. क. सर्वार्थसिद्धि, ७/३५ ख. लाटीसंहिता, ५/२१४

आदि में चैतन्य द्रव्य से संश्लिष्ट आहार को सचित्तसम्बद्धाहार कहा है।[1]

३. अपक्वदोष—श्रावकप्रज्ञप्ति टीका में जो भोज्य पदार्थ पका नहीं हो, कच्चा हो, वह अपक्व कहलाता है।[2] आचारसार, भावसंग्रहटीका में अग्नि आदि द्रव्य के द्वारा जिसका रूप, रस, गंध अन्यथा नहीं हुआ हो वह अपक्व दोष वाला होता है।[3]

४. दुष्पक्व दोष—श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में जो भोज्य पदार्थ अधपका हो दुष्पक्व माना गया है।[4] सर्वार्थसिद्धि में ठीक से नहीं पके हुए आहार को दुष्पक्व आहार कहा है।[5]

५. तुच्छ औषधि—श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में मूँग की फलियों आदि को निःसार वस्तु समझकर तुच्छ नाम दिया है।[6]

इस प्रकार व्यक्ति अपने खाने-पीने की तथा वस्त्राभूषण की एक मर्यादा निश्चित कर लेता है, वह चाहे इक्कीस बोलों के रूप में हो, चाहे छब्बीस, सत्रह व अठारह के रूप में। शेष समस्त वस्तुओं का परित्याग करता है। इनमें कन्दमूलादि चेतना युक्त पदार्थ या उससे सटा हुआ पदार्थ, आधा पका पदार्थ और गन्ना आदि तुच्छ वस्तुओं के खाने के दोषों से बचना होता है।

कर्मादान—

उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत के उपर्युक्त पाँच अतिचारों के अतिरिक्त

---

१. क. "तत्प्रतिबद्धं च वृक्षस्थगुंद, पक्वफलादि लक्षणम्"

—श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, २८६

ख. सर्वार्थसिद्धि, ७/३५ ग. लाटीसंहिता, ५/२१६

२. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, २८६

३. क. ....अपक्वं पावकादिभि। द्रव्येरत्यक्तपूर्वस्ववर्णं गंधरसं विन्दु, आचारसार, ८/५२ ख. भावसंग्रहटीका, १००

४. "दुःपक्वास्त्वर्धस्विनाः"—श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, २८६

५. "असम्यक्पक्वो दुःपक्व"—सर्वार्थसिद्धि, ७/३५

६. "तुच्छास्त्वसारा मुद्‌गफलीप्रभृतय इति"।—श्रावकप्रज्ञप्तिटीका २८६

कर्म के अनुसार पन्द्रह अतिचार और भी गिनाए गये हैं। उपासकदशांगसूत्र एवं आवश्यकसूत्र में श्रावक के बारह व्रतों के अतिचार के पाठ में पन्द्रह कर्मादानों के केवल नाम निर्देश हैं।[1] सागारधर्मामृत, योगशास्त्र, श्रावकप्रज्ञप्तिटीका आदि में इनका स्वरूप भी प्रतिपादित है। पन्द्रह कर्मादान इस प्रकार हैं:—

१. अंगार कर्म—योगशास्त्र में कोयला बनाकर, भाड़-भूँजकर, कुम्हार, लुहार, सुधार, ठठेरे आदि का कार्य करके आजीविका कमाने वालों के कर्म को अंगार कर्म माना है।[2] श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में अग्नि को प्रज्ज्वलित कर कोयला, लोहे आदि के उपकरण बनाने को अंगार कर्म कहा है।[3]

२. वन कर्म—उपासकदशांगसूत्रटीका में वन कर्म का अर्थ ऐसे व्यवसाय से किया है जिसका सम्बन्ध वनों या जंगलों से हो, जैसे लकड़ी काट कर बेचना या चक्की चलाना अथवा वनस्पति का छेदन सब इसी में सम्मिलित है।[4] योगशास्त्र, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में कटे या बिना कटे वन के पत्तों, फूलों को बेचकर, धान्य को दलकर, पीसकर आजीविका चलाने को वन कर्म कहा है।[5]

---

१. क. "कम्मओ णं समणोवासएणं पण्णरस कम्मादाणाइं .... इंगालकम्मे, वणकम्मे, साडीकम्मे, भाडीकम्मे, फोडीकम्मे, दंतवाणिज्ज, लक्खावाणिज्ज, रसवाणिज्जे, विसवाणिज्जे, केशवाणिज्जे, जंतपीलणकम्मे, निल्लंछणकम्मे, दवग्गिदावणया, सरदहतलायसोसणया, असइजणपोषणया"

—उवासगदसाओ, १/४७

ख. श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र–अणुव्रत, ७ ग. सागारधर्मामृत, ५/२१,२३
घ. योगशास्त्र, ३/९८ से १०० ङ. श्रावकप्रज्ञप्ति, २८७-२८८

२. योगशास्त्र, ३/१०१

३. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, २८७

४. "वनकर्म च वनस्पति छेदनपूर्वकंतद्वि क्रयजीवनम्"

—उपासकदशांगसूत्रटीका–अभयदेव, पृष्ठ ३९

५. क. योगशास्त्र, ३/१०२
ख. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, ९/३/३३७

३. साड़ी कर्म—उपासकदशांगसूत्रटीका में बैलगाड़ी, रथ आदि बनाकर बेचने का धंधा करना साड़ी कर्म माना है।[1] योगशास्त्र एवं त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित्र में गाड़ी और उसके अंग, चाक आदि बनाना, चलाना व बेचना शकट जीविका मानी है।[2]

४. भाटी कर्म—उपासकदशांगसूत्रटीका में पशु, बैल, अश्व आदि को भाड़े पर देने के व्यापार को भाटी कर्म कहा है।[3] योगशास्त्र व त्रिषष्टि-शलाकापुरुष चरित्र में गाड़ी, बैल, खच्चर, घोड़े आदि को भाड़े के निमित्त चलाकर बेचने का धंधा करना भाटी कर्म है।[4] आवश्यक-टीका एवं श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में भी यही स्वरूप वर्णित है।[5]

५. फोड़ी कर्म—उपासकदशांगसूत्रटीका में कुदाल, हल द्वारा खान खोदने, पत्थर फोड़ने आदि के व्यापार को फोड़ी कर्म कहा है।[6] योगशास्त्र एवं त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में तालाब, व कुएँ आदि को खोदने, शिलाओं को तोड़ने आदि क्रियाओं को फोड़ी कर्म बताया

---

१. "शकटकर्म शकटानां घटन विक्रयवाहनरूपं"
—उपासकदशांगसूत्रटीका–अभयदेव, पृष्ठ ३९

२. क. योगशास्त्र, ३/१०३
ख. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, ९/३/३३८

३. "भाटककर्ममूल्यार्थ गन्त्यादिभिः परकीयभांडवहनं"
—उपासकदशांगसूत्रटीका–अभयदेव, पृष्ठ ३९

४. क. शकटोक्ष–लुलायोष्ट्र खराश्वतर वाजिनाम् ।
भारस्य वाहनाद् वृत्तिर्भवेद्भाटकजीविका ॥
—योगशास्त्र, ३/१०४
ख. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, ९/३/३३९

५. क. "भाटीकम्मं सएण भंडोवक्खरेण भाडएण वहइ, परायगं ण कप्पति अण्णेसिं वा सगडं बलद्दे य न देति" —आवश्यकटीका, ६/८२९
ख. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, २८८

६. "स्फोटकर्मकुद्दालहलादिभिर्भूमिदारणेन जीवनम्"
—उपासकदशांगसूत्रटीका-अभयदेव, पृष्ठ ३९

है।[1] सागारधर्मामृतस्वोपज्ञटीका में पृथ्वीकायिक जीवों के उपमर्दन हेतु उडादि क्रिया द्वारा जीविका को स्फोटक कर्म माना है।[2]

६. दन्त वाणिज्य—उपासकदशांगसूत्रटीका में हाथी आदि के दाँतों का व्यापार करना, जिसमें चर्म आदि का भी व्यापार सम्मिलित है, उसे दन्त वाणिज्य कहा है।[3] योगशास्त्र, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र के अनुसार हाथी के दांत, गाय के वाल, उलूक के नाखून, शंख की अस्थि, सिंहादि का चर्म तथा हंस के रोक का व्यापार करना दन्त वाणिज्य बताया गया है।[4]

७. लाख वाणिज्य—लाख, चपड़ी आदि के व्यापार को उपासकदशांगसूत्रटीका में लाक्षावाणिज्य कहा है।[5] योगशास्त्र तथा त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में लाख, मैनसिल, नील, धातकी के फूल, छाल आदि का व्यापार करना लाक्षावाणिज्य कहा है।[6]

८. रस वाणिज्य—उपासकदशांगसूत्रटीका में मदिरा आदि रसों के व्यापार को रस वाणिज्य कहा है।[7] योगशास्त्र और त्रिषष्टिशलाका-

---

१. क. योगशास्त्र, ३/१०५
   ख. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, ९/३/३४०

२. "स्फोटजीविका उडादि कर्मणा पृथिवी कायिका द्युप मद हेतुनाजीवनम्"
   —सागारधर्मामृत स्वोपज्ञटीका, ५/२१

३. "दन्तवाणिज्यं हस्तिदंतनखसंख पूतिकेशादिनां तत्कर्म्मकारिभ्यः क्रयेणतद्वि क्रय पूर्वकं जीवनम्"
   —उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ३९–४०

४. क. योगशास्त्र, ३/१०६
   ख. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, ९/३/३४१

५. "लक्खवाणिज्जं संजातजीवद्रव्यान्तरविक्रयोपलक्षणं"
   —उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ४०

६. क. योगशास्त्र, ३/१०७
   ख. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, ९/३/३४२

७. "रसवाणिज्जेसुरादिविक्रय" —उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ४०

पुरुषचरित्र के अनुसार मक्खन, चर्बी, मधु एवं मद्य आदि के बेचने को रस वाणिज्य माना है।[1]

९. विष वाणिज्य—उपासकदशांगसूत्रटीका में प्राणियों की घात से सम्बन्धित शस्त्रादि को विक्रय करने को विषवाणिज्य कहा है।[2] योगशास्त्र व त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में विष, शस्त्र, हल, यन्त्र, लोहा आदि प्राणघातक वस्तुओं के व्यापार को विषवाणिज्य बताया है।[3]

१०. केश वाणिज्य—उपासकदशांगसूत्रटीका में दास-दासी तथा पशु आदि जीवित प्राणियों के क्रय-विक्रय का धन्धा करना केश वाणिज्य माना है।[4] योगशास्त्र, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में भी यही स्वरूप बताया है।[5]

११. जन्तपीलण कर्म—उपासकदशांगसूत्रटीका में घाणी, कोल्हू आदि यन्त्रों के द्वारा तिल, सरसों आदि को पीलने का धन्धा करना यन्त्र-पीलण कर्म माना है।[6] अन्य सभी ने भी प्रायः यही स्वरूप दिया है।[7]

---

१. क. योगशास्त्र, ३/१०८
 ख. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, ९/३/३४३

२. "विषवाणिज्जं जीवघातप्रयोजनं शस्त्रादिविक्रयोपलक्षणं"
—उपासकदशांगसूत्रटीका–अभयदेव, पृष्ठ ४०

३. क. योगशास्त्र, ३/१०९
 ख. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, ९/३/३४४

४. "केशवाणिज्यं केशवतांदासीदासगवोष्ट्र हस्त्यादिकानां विक्रय रूपं"
— उपासकदशांगसूत्रटीका–अभयदेव, पृष्ठ ४०

५. क. योगशास्त्र, ३/१०८
 ख. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, ९/३/३४४

६. "यंत्रपीड़ण कम्मं यंत्रेण तिलेक्षुप्रभृतीनां यत्पीडनरूपकम्मंत तथा"
—उपासकदशांगसूत्रटीका–अभयदेव, पृष्ठ ४०

७. क. योगशास्त्र, ३/११०
 ख. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, ९/३/३४५

१२. निल्लंछण कर्म—उपासकदशांगटीका में बैल आदि को नपुंसक बनाने के व्यापार को निर्लच्छिन कर्म कहा है।[१] योगशास्त्र आदि ग्रन्थों में जानवरों की नाक बींधना, डाम लगाना, खसी, ऊँट आदि की पीठ गालना तथा कान को छेदने को निर्लच्छिन कर्म बताया है।[२]

१३. दवग्गिदावनया—उपासकदशांगसूत्रटीका में जंगल में आग लगाना, जिससे अनियंत्रित होकर त्रस जीवों की घात हो सकती है, ऐसी आग को दवग्गिदावनया कहा है।[३] योगशास्त्र में आदतवश जंगल में आग लगाने को दवदान कहा है।[४]

१४. सरदहतलायसोसणया— उपासकदशांगसूत्रटीका में तालाब, झील, सरोवर, नदी आदि जलाशयों को सुखाना इसमें निहित माना है।[५] योगशास्त्र आदि में भी यही स्वरूप प्रतिपादित किया है।[६]

१५. असइजनपोषणया—उपासकदशांगसूत्रटीका में व्यभिचार आदि के लिए वेश्या को नियुक्त करना तथा शिकार आदि के लिए कुत्ते आदि को पालना भी असइजनपोषण कहा है।[७] योगशास्त्र एवं त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में मैना, तोता, बिल्ली, मुर्गा, मयूर को पालना, दासी

---

१. उपासकदशांगसूत्रटीका-अभयदेव, पृष्ठ ४०
२. क. योगशास्त्र, ३/१११
 ख. त्रिपष्टिशलाकापुरुपचरित्र, ९/३/३४६
३. "दवग्गिदाणंदवाग्नेर्वनाग्ने-दाणं वितरणं क्षेत्रादि शोधन निमित्तं दावाग्निदानमिति" —उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ४०
४. योगशास्त्र, ३/११३
५. "सरोहृदतडाग परिशोपणता तत्र सरः—स्वभाव निष्पन्नं, हृदोनयादिनां निम्नतरः प्रदेशः तडागं खननसम्पन्नमुतान विस्तीर्ण जलस्थानम्, एतेषां शोपणं गोधूमादीनां वपनार्थम्"
 —उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ४०-४१
६. क. योगशास्त्र, ३/११३ ख. त्रिपष्टिशलाकापुरुपचरित्र, ९/३/३४८
७. "असईजणपोसणयाअसतीजनस्यदासीजनस्य पोपणं तद्भाटिकोपिजीवनार्थंयत्त-तथाएवमन्यदपिक्रूरकर्मकारिणः प्राणिनः पोपणम्"
 —उपासकदशांगसूत्रटीका-अभयदेव, पृष्ठ ४१

का पोषण करना, दुश्शील स्त्रियों को रखना भी असतिजनपोषण बताया है।[1]

इन पन्द्रह प्रकार के कार्यों को करने से त्रसजीवों की हिंसा होना अवश्यंभावी है, इस कारण श्रावक इन पन्द्रह प्रकार के कर्मादानों का त्याग करता है, जिससे उसके आध्यात्मिक आचरण में वाधा उपस्थित नहीं हो।

अनर्थदंड-विरमण-व्रत

अनर्थदण्डविरमणव्रत की व्याख्या करने से पूर्व यह समझना आवश्यक है कि अनर्थदण्ड, जिनकी मर्यादा निश्चित करनी होती है, वह कितने प्रकार का है ?

"अवज्झाणायरियं, पमायायरियं, हिंसप्पयाणं, पावकम्मोवएसे"

उपासकदशांगसूत्र में अपध्यानाचरित्त, प्रमादाचरित्त, हिंस्रप्रदान, पापकर्म का उपदेश ये चार अनर्थदण्ड कहे हैं।[2] श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र, श्रावकप्रज्ञप्ति तथा योगशास्त्र आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों में अनर्थदण्ड के उपासकदशांग के अनुसार ही चार भेद किये हैं।[3] दिगम्बर ग्रन्थों में रत्नकरण्डकश्रावकाचार, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, सर्वार्थसिद्धि, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, अमितगतिश्रावकाचार, सागारधर्मामृत में अनर्थदण्ड के पाँच भेद किये हैं। इनमें पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति व प्रमादचर्या नाम दिये हैं।[4]

---

१. क. योगशास्त्र, ३/११२ ख. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, ९/३/३४७

२. उवासगदसाओ, १/४३

३. क. श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र—अणुव्रत, ८
ख. श्रावकप्रज्ञप्ति, २८९
ग. योगशास्त्र, ३/७४ (यहाँ अपध्यान में आर्त-रौद्रध्यान भी जोड़ा है)

४. क. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ७५
ख. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४३ से ४७
ग. सर्वार्थसिद्धि, ७/२१
घ. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक १४१–४५
ङ. अमितगतिश्रावकाचार, ६/८१
च. सागारधर्मामृत ५/६

सभी आचार्यों एवं मनीषियों ने इन सबके त्याग का उपदेश दिया है, ऐसी स्थिति में इनकी विस्तृत जानकारी का होना आवश्यक है :—

१. **अपध्यानाचरित**—उपासकदशांगसूत्रटीका के अनुसार गृहस्थ अपने खेत, घर, धन, धान्य की रक्षा करता है। उन प्रवृत्तियों के आरम्भ के द्वारा जो उपमर्दन होता है वह अर्थदण्ड है। अर्थदण्ड के विपरीत निष्प्रयोजन प्राणियों के विघात को अपध्यान माना है।[1] रत्नकरण्डक-श्रावकाचार कार्तिकेयानुप्रेक्षा, सर्वार्थसिद्धि तथा पुरुषार्थसिद्धयुपाय में द्वेष से किसी प्राणी के वध, बन्ध और छेदनादि का चिन्तन करना एवं राग से परस्त्री का चिन्तन करना अपध्यान कहलाता है।[2] श्रावक-प्रज्ञप्ति, योगशास्त्र तथा सागारधर्मामृत में आर्त-रौद्र रूप दुष्ट चिन्तन को अपध्यान कहा है।[3]

२. **प्रमादाचरित**—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, सर्वार्थ-सिद्धि, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, सागारधर्मामृत में प्रयोजन के बिना भूमि को खोदना, पानी का ढ़ोलना, अग्नि का जलाना, पवन का चलाना, वनस्पति का छेदन, निष्प्रयोजन घूमना एवं दूसरों को घुमाना प्रमाद-चरित में सम्मिलित किये हैं।[4] श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में मद्यादिजनित

---

१. "अर्थः प्रयोजनम् गृहस्थस्य क्षेत्र वस्तु, वास्तु धन धान्य.... तद्विपरितोऽनर्थ-दण्डः—उपासकदसांगसूत्रटीका—आचार्य अभयदेव, १/४३

२. क. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ७८
ख. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४३
ग. सर्वार्थसिद्धि, ७/२१
घ. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, १४१, १४६

३. क. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, २८९
ख. योगशास्त्र, ३/७५
ग. सागारधर्मामृत, ५/९

४. क. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ८०
ख. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४५
ग. सर्वार्थसिद्धि, ७/२१
घ. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, १४३
ङ. सागारधर्मामृत, ५/१०-११

प्रमाद के वश होकर जो प्राणियों को पीड़ा पहुँचाई जाती है उसे प्रमादचरित माना है।[1] योगशास्त्र में गीत, नृत्य, नाटक आदि देखना, कामशास्त्र में आसक्ति, जुआ एवं मद्य का सेवन, जलक्रीडा, पशुओं को लड़ाना, भोजन, स्त्री, देश, राजा सम्बन्धी वार्तालाप करना, आदि को प्रमादाचरण कहा है।[2]

३. **हिंस्रप्रदान**—उपासकदशांगसूत्रटीका, रत्नकरण्डकश्रावकाचार, सर्वार्थसिद्धि, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, सागारधर्मामृत में हिंस्रप्रदान का एक ही स्वरूप बताया है। यहाँ—

> "हिंसाहेतुत्वादायुधानलविषादयो हिंस्रोच्यते, तेषां प्रदानम्। अन्यस्मै क्रोधाभिभूताय अनभिभूताय प्रदानं, परेषां समर्पणम्"

कहकर बताया गया है कि जिन से हिंसा होती है वह शस्त्र, अस्त्र, आग, विष आदि हिंसा के साधनों को क्रोधाविष्ट व्यक्ति के हाथों में दे देना हिंस्रदान है।[3] परन्तु कार्तिकेयानुप्रेक्षा में बिल्ली, कुत्ता आदि मांसभक्षी पशुओं का पालन, आयुध एवं लोहा आदि बेचना, लाख तथा खली आदि का संग्रह करना हिंसादान माना गया है।[4]

४. **पापोपदेश**—रत्नकरण्डकश्रावकाचार एवं तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकार पूज्यपाद अकलंकदेव ने तिर्यञ्चों को क्लेश पहुँचाने का, तिर्यञ्चों के व्यापार का उपदेश और आरंभहिंसासे दूसरोंको छलने की कथाओं का

---

१. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, २८९

२. योगशास्त्र, ३/७८-७९-८०

३. क. उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ४३
   ख. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ७७
   ग. सर्वार्थसिद्धि, ७/२१
   घ. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १४४
   ङ. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, २८९
   च. सागारधर्मामृत, ५/८
   छ. योगशास्त्र, ३/७७

४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४६

प्रसंग उठाने को पापोपदेश कहा है।[१] कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, योगशास्त्र तथा सागारधर्मामृत में खेती, पशुपालन, वाणिज्य एवं आरंभ कार्यों का उपदेश तथा पुरुष-स्त्री के विवाह आदि में संयोग करने कराने के कथन को पापोपदेश कहा है।[२] श्रावकप्रज्ञप्ति-टीका में पापोत्पादक कार्य तिर्यञ्च को कष्ट पहुँचाना, कृषि-वाणिज्य में भाग लेना एवं निरर्थक उपदेश देना कहे गये हैं।[३]

५. दुःश्रुति—दिगम्बर साहित्य में यह एक भेद और प्राप्त होता है, रत्नकरण्डकश्रावकाचार, कार्तिकेयानुप्रेक्षा एवं सागारधर्मामृत में कुमार्गप्रतिपादक शास्त्रों को सुनना, भंडण, वशीकरण, कामशास्त्र एवं अन्य लोगों के दोषों को सुनना दुःश्रुति कहा है।[४] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय तथा सर्वार्थसिद्धि में रागादि वढ़ानेवाली खोटी कथाओं को सुनना, संग्रह करना एवं शिक्षण करना दुःश्रुति माना है।[५]

इस प्रकार श्वेताम्बर साहित्य में चारों प्रकार के अनर्थदण्डों के त्याग को मर्यादा निश्चित करना अनर्थदण्डविमरण-व्रत माना है तो दिगम्बर साहित्य में पाँचों प्रकार के अनर्थकारी कार्यों की मर्यादा करना अनर्थदण्ड-विरमण-व्रत माना है। कहीं-कहीं अनर्थदण्ड के भेदों को न मानकर अनर्थ-दण्डविरमणव्रत का स्वरूप ही प्रतिपादित कर दिया है, इसमें उपासकाध्ययन

---

१. क. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ७६
   ख. तत्त्वार्थवार्तिक, ७/२१

२. क. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४४
   ख. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १४२
   ग. योगशास्त्र, ३/७६
   घ. सागारधर्मामृत ५/७

३. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, २९०

४. क. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ७९
   ख. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४७
   ग. सागारधर्मामृत, ५/९

५. क. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १४५
   ख. सर्वार्थसिद्धि, ७/२१

एवं वसुनन्दिश्रावकाचार मुख्य हैं। उपासकाध्ययन में आचार्य सोमदेव ने हिंसक जन्तुओं को पालना, हिंसा के साधन दूसरों को देना, पाप का उपदेश देना, आर्त्त एवं रौद्र ध्यान करना, हिंसामय खेल खेलना, इधर-उधर भटकना, दूसरों को कष्ट पहुँचाना, चुगली खाना, रोना अनर्थदण्ड तथा इसे रोकने को अनर्थदण्ड विरमणव्रत कहा है।[१] वसुनन्दिश्रावकाचार ने लोहे के शस्त्र वेचने का त्याग करना, माप-तोल के वाटों को सही रखना, क्रूर प्राणियों का संग्रह नहीं करना अनर्थदण्डत्यागव्रत माना है।[२]

अतः इसमें श्रावक आर्त्तध्यान का, विना प्रयोजन हिंसा के कार्य का, हिंसात्मक शस्त्रों का, पापकर्म का उपदेश एवं कुमार्ग की ओर प्रेरित करने वाले साधनों का त्याग करता है जिससे व्यर्थ की हिंसा से वचाकर सदाचारयुक्त जीवन वन सके।

अतिचार—

व्रतों के निर्विघ्न पालन करने में आने वाली वाधाओं के सन्दर्भ में इसमें भी पाँच अतिचार वताये हैं, जिनसे वचना चाहिए।

> "कंदप्पे, कुक्कुइए, मोहरिए संजुत्ताहिगरणे
> उवभोगपरिभोगाइरित्ते"

उपासकदशांगसूत्र, श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र में—कंदर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, संयुक्ताधिकरण, उपभोग-परिभोगातिरेक, ये पाँच अतिचार गिनाये हैं।[३] रत्नकरण्डकश्रावकाचार में कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, अतिप्रसाधन, विना सोचे-विचारे कार्य करने को अतिचार कहा है।[४] तत्त्वार्थसूत्र, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्रावकप्रज्ञप्ति, चारित्रसार, योगशास्त्र एवं सागारधर्मामृत में कंदर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, सेव्यार्थाधिकता एवं असमीक्षाधिकरण ये पाँच

---

१. उपासकाध्ययन, ७/१ ४५३-५५

२. वसुनन्दिश्रावकाचार, २१६

३. क. उवासगदसाओ, १/५२
   ख. श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र—अणुव्रत, ८

४. कन्दर्पं, कौत्कुच्यं मौखर्यमतिप्रसाधनं पञ्च।
   असमीक्ष्य चाधिकरणं व्यतीतयोऽनर्थदण्डकृद्विरतेः॥
   —रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ८१

अतिचार वताये हैं। योगशास्त्र तथा श्रावकप्रज्ञप्ति ने असमीक्षाधिकरण को संयुक्ताधिकरण और सेव्यार्थाधिकता को उपभोगपरिभोगातिरेक नाम दिया है। इनके स्वरूप में अन्तर नहीं हैं।[1] उपासकाध्ययन में अतिचार तो नहीं बताये परन्तु उपदेश से ठगी, आरम्भ, हिंसा का प्रवर्तन करना, शक्ति से अधिक बोझा लादना, दूसरों को अधिक कष्ट देने को हानियुक्त कार्य कहा है।[2] उपर्युक्त पांचों अतिचारों का विवरण इस प्रकार है :—

१. कन्दर्प—सर्वार्थसिद्धि में राग की अधिकता से हास्यमिश्रित अशिष्ट वचनों के बोलने को कंदर्प कहा है।[3] चारित्रसार, लाटीसंहिता, श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में राग की तीव्रता से हँसी मिश्रित वचन को कंदर्प कहा है।[4]

२. कौत्कुच्य—चारित्रसार आदि में दूसरे मनुष्य पर शरीर की खोटी चेष्टा को दिखाते हुए राग से समाविष्ट, हँसी के वचन बोलना या अशिष्ट वचन बोलना कौत्कुच्य बताया है।[5] लाटीसंहिता, श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में भी यही स्वरूप है।[6]

३. मौखर्य—सर्वार्थसिद्धि में धृष्टता के साथ जो कुछ निरर्थक बकवाद किया जाता है उसे मौखर्य कहा है।[7] चारित्रसार, लाटीसंहिता और

---

१. क तत्त्वार्थसूत्र, ७/३२ ख. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय १९०
ग. श्रावकप्रज्ञप्ति, २९१ घ. चारित्रसार, पृष्ठ २४४
ङ. योगशास्त्र, ३/११४ च. सागारधर्मामृत, ५/१२

२. उपासकाध्ययन, ७/४२४

३. ''रागोद्रेकात् प्रहासमिश्रो शिष्ट वाक्य प्रयोगः कन्दर्पः''
—सर्वार्थसिद्धि, ७/३२

४. क. चारित्रसार, २४४ ख. लाटीसंहिता, ५/१४१
ग. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, २९१

५. ''रागस्य समावेशाद्धास्यवचनमशिष्टवचनमित्येतदुभयं परस्मिन् दुष्टेन कायकर्मणा युक्तं कौत्कुच्यम् —चारित्रसार, २४४-४५

६. क. लाटीसंहिता, ५/१४२ ख. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, २९१

७. ''धार्ष्ट्यप्रायं यत्किन्चनानर्थकं बहुप्रलपितं मौखर्यम्''
—सर्वार्थसिद्धि, ७/३२

श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में भी अशालीनतापूर्वक असत्य, अनर्थक बकवास को मौखर्य माना है।[1]

४. संयुक्ताधिकरण—श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में जो मनुष्य नारक आदि गतियों में अधिकृत किया जाता है वह अधिकरण कहलाता है। एक वस्तु को दूसरे के साथ जोड़ना संयुक्ताधिकरण है, जैसे-धनुष के साथ बाण[2]—

"अधिक्रियते नर-नारकादिष्वनेनेत्यधिकरणम्"

योगशास्त्रस्वोपज्ञविवरणिका में जिसके द्वारा जीव दुर्गति में अधिकृत किया जाता है, उसे अधिकरण तथा संयुक्त हल से फाल, धनुष से संयुक्त बाण आदि को संयुक्ताधिकरण कहा है। इस प्रकार एक अधिकरण को दूसरे अधिकरण से संयुक्त करने को संयुक्ताधिकरण बताया है।[3]

५. उपभोगपरिभोगातिरेक—सर्वार्थसिद्धि तथा तत्त्वार्थवार्तिक में जितनी उपभोग वस्तुओं के प्रयोजन से सिद्ध होती है उतने का नाम उपभोगपरिभोग अर्थ है एवं उससे अधिक उपभोगपरिभोग के संग्रह को अतिरेक कहा है।[4] चारित्रसार, लाटीसंहिता एवं श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह आनर्थक्य माना गया है।[5]

---

१. क. चारित्रसार, २४५
  ख. लाटीसंहिता, ५/१४३
  ग श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, २९१

२. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, २९१

३. योगशास्त्रस्वोपज्ञविवरणिका, ३/११५

४. क. "यावताऽर्थेनोपभोग-परिभोगी सोऽर्थस्ततोऽन्य स्याधिक्यमानर्थक्यम्"
  —सर्वार्थसिद्धि, ७/३२
  ख. तत्त्वार्थवार्तिक, ७/३२/६

५. क. चारित्रसार, २४५
  ख. लाटीसंहिता, ५/१४४-१४५
  ग. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, २९१

विभिन्न शिक्षाव्रत व अतिचार

शिक्षाव्रत—

शिक्षा का सामान्य अर्थ अभ्यास से है। इसमें निरन्तर अभ्यासित रूप से व्रतों का पालन करना होता है। पूर्ववर्णित अणुव्रतों एवं गुणव्रतों को एक वार ग्रहण करने पर उन्हें पुनः ग्रहण नहीं करने पड़ते हैं। परन्तु शिक्षाव्रतों को पुनः-पुनः अभ्यास हेतु अल्प समय के लिए ग्रहण करना होता है। इन्हें सामायिक, देशावकाशिक, प्रौषधोपवास एवं अतिथि-संविभाग इन चार रूपों में विभाजित किया गया है। वर्णन इस प्रकार हैं :—

सामायिक व्रत—

सामायिक को पहला शिक्षाव्रत माना गया है। वस्तुतः यह सामायिक आत्मा में मन, वचन, काया के द्वारा रमण करने का सकारात्मक पहलू है। श्रावकाचार के प्रमुख ग्रन्थ उपासकदशांगसूत्र में सामायिक के स्वरूप के वारे में कहीं पर कोई वर्णन प्राप्त नहीं होता है फिर भी पूर्व में श्रावकों द्वारा वारह व्रतों के ग्रहण करने की जो प्रतिज्ञा आती है उससे अप्रत्यक्ष में इसके अस्तित्व को स्वीकारा जा सकता है। श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र के नौवें सामायिकव्रत में समस्त सावद्ययोग का, जितने समय तक का नियम लिया है, उतने समय तक के लिए त्याग करने को सामायिक माना गया है। उसका यह त्याग दो करण और तीन योग से होता है।[1] रत्नकरण्डक-श्रावकाचार आदि ग्रन्थों में एक निश्चित समय तक हिंसादि पाँचों पापों को तीन करण एवं तीन योग से त्याग सामायिक कहा है।[2] कार्तिके-यानुप्रेक्षा में पर्यङ्क आसन को वाँध कर या उस पर सीधा खड़ा होकर

---

१. "सव्व सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जाव नियमं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मनसा वयसा कायसा"

—श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र-अणुव्रत, ९

२. क. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ९७

ख. श्रावकप्रज्ञप्ति, २९२

ग. "सामायिकं नामाभिगृह्य कालं सर्वसावद्ययोग निक्षेपः"

—तत्त्वार्थभाष्य, ७/१६

निश्चित समय तक इन्द्रियों के व्यापार से रहित होकर मन को एकाग्रकर, काय को संकोचकर, हाथ की अंजलि वांध लेना और आत्मस्वरूप में लीन होकर सर्वसावद्य योग को छोड़ने को सामायिक कहा गया है।[१] उपासकाध्ययन में जिनेन्द्रदेव की पूजा का जो उपदेश है उस समय और उसमें उसके इच्छुकजनों के जो-जो काम वतलाये गये हैं, उसे सामायिक कहा है।[२] अमितगति आदि ने आर्त और रौद्र ध्यान को छोड़कर निर्मल धर्म-ध्यान से युक्त होकर भक्तिपूर्वक किया गया कार्य सामायिक माना है।[३] सागारधर्मामृत में पं० आशाधर ने केशवन्ध, मुष्टिवन्ध और वस्त्रवन्ध पर्यन्त सम्पूर्ण राग-द्वेष और हिंसादिक पापों का परित्याग कर आत्मा के ध्यान को सामायिक माना है।[४] लाटीसंहिता में शुद्ध आत्मा का साक्षात् चिन्तन करने को सामायिक कहा है।[५]

सामायिक का काल—कार्तिकेयानुप्रेक्षा में पूर्वाह्न, मध्याह्न एवं अपराह्न तीनों को सामायिक का काल कहा है।[६] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में इसकी अनिवार्यता प्रातःकाल तथा संध्या के समय वताई है, फिर भी अन्य समय में की हुई सामायिक को दोषपूर्ण नहीं माना है।[७] अमितगतिश्रावकाचार में भी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की तरह तीन वार सामायिक का विधान किया गया है।[८]

सामायिक का स्थान—रत्नकरण्डकश्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि जहाँ पर चित्त में विक्षोभ उत्पन्न नहीं हो वहीं सामायिक करनी चाहिए।[९]

---

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ५४-५६
२. उपासकाध्ययन, ८/२
३. क. अमितगतिश्रावकाचार, ६/८६
   ख. योगशास्त्र, ३/८२
४. सागारधर्मामृत, ५/२८
५. लाटीसंहिता, ५/१५२
६. कार्तिकेयानुप्रेक्षा ५३
७. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १४९
८. अमितगतिश्रावकाचार, ६/८७
९. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ९९

सामायिक के भेद—प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में सामायिक के छः प्रकार बताये हैं :—

१. नाम सामायिक—जो शुभ और अशुभ के भेदों को सुनकर राग-द्वेष को त्यागता है, वह नाम सामायिक है।[1]

२. स्थापना सामायिक—जो शुभ और अशुभ, चेतन तथा जड़ पदार्थों को देखकर राग-द्वेषादि का त्याग करता है, उस स्थापना को स्थापना सामायिक माना है।[2]

३. द्रव्य सामायिक—जो सोने तथा मिट्टी में समान भाव रखता है, वह द्रव्य सामायिक है।[3]

४. क्षेत्र सामायिक—जो शुभ देश में सुख पाकर तथा अशुभ देश में दुःख पाकर राग-द्वेष का त्याग कर देता है, वह क्षेत्र सामायिक है।[4]

५. काल सामायिक—जो शीतकाल में एवं उष्णकाल में समता धारण करते हैं, उसको काल सामायिक माना गया है।[5]

६. भाव सामायिक—जो मित्र-शत्रु आदि में राग-द्वेष न रखकर अपने को समस्त पापों से रहित बना लेता है, उसके भाव सामायिक होती है।[6]

अतिचार—

प्रायः सभी ग्रन्थों में सामायिक के पाँच अतिचार माने हैं, उपासकदशांग आदि में मनोदुष्प्रणिधान, वचनदुष्प्रणिधान, कायदुष्प्रणिधान, सामायिक की समयावधि का ध्यान नहीं रखना एवं सामायिक अव्यवस्थित करना, ये पाँच अतिचार स्वीकार किये हैं।[7]

---

१. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, १८/२४
२. वही, १८/२५
३. वही, १८/२६
४. वही, १८/२७
५. वही, १८/२८
६. वही, १८/२९
७. क. "पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा—मणदुप्पणिहाणे, वय-

१. **मनोदुष्प्रणिधान**—तत्त्वार्थभाष्यसिद्धवृत्ति में क्रोध, लोभ, द्रोह, अभिमान, ईर्ष्या और कार्य की व्यस्तता से उत्पन्न क्षोभ, मन को जो दुष्प्रवृत्त करता है उसे मनोदुष्प्रणिधान कहा है।[1] चारित्रसार में सामायिक करने में मन को न लगाने को मनदुष्प्रणिधान बताया है।[2] लाटीसंहिता के अनुसार आत्मा के स्वरूप के चिन्तन के सिवाय अन्य पदार्थों का चिन्तन करना इस अतिचार में आता है।[3]

२. **वचनदुष्प्रणिधान**—तत्त्वार्थभाष्यसिद्धवृत्ति में मनोदुष्प्रणिधान की जगह वचनोदुष्प्रणिधान कर दिया गया है। चारित्रसार में शब्दों के उच्चारण में और उसके भावरूप अर्थ में अजानकारी और चपलता

दुप्पणिहाणे, कायदुप्पणिहाणे, सामाइयस्ससइअकरणया सामाइयस्स अणवट्ठियस्सकरणया"

—उवासगदसाओ, १/५३

ख. श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र–अणुव्रत. ९

ग. तत्त्वार्थसूत्र, ७/२८

घ रत्नकरण्डकश्रावकाचार, १०५

ङ. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, १९१

च. श्रावकप्रज्ञप्ति, ३१२

छ. योगशास्त्र, ३/११५

ज. अमितगतिश्रावकाचार, ७/११

झ. सागारधर्मामृत, ५/३३

ट. लाटीसंहिता, ५/५७

१. "क्रोध-लोभाभिद्रोहाभिमानेर्ष्यादि कार्यव्यासङ्ग जातसम्भ्रमो दुष्प्रणिद्यते मन इति मनोदुष्प्रणिधानम्"

—तत्त्वार्थभाष्यसिद्धवृत्ति, ७/२८

२. "मनसोऽनर्पितत्वं मनोदुष्प्रणिधानम्"

—चारित्रसार, २४६

३. लाटीसंहिता, ५/१८९

रखना वाग्दुष्प्रणिधान नामक अतिचार माना है।[1] श्रावकप्रज्ञप्ति-टीका में सामायिक में उद्यत व्यक्ति को पूर्व में बुद्धि से विचार कर निर्दोष भाषण न करने को वचन दुष्प्रणिधान कहा है।[2]

३. **कायदुष्प्रणिधान**—चारित्रसार में शरीर के हस्तपाद आदि अंगों को स्थिर नहीं रखना कायदुष्प्रणिधान माना है।[3] लाटीसंहिता में शरीर को स्थिर रखकर हाथ, अंगुली, माथा, आँख, भौंह आदि से इशारा करना कायदुष्प्रणिधान नामक अतिचार बताया है।[4] श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में सामायिक योग्यभूमि को आँखों से न देखकर, कोमल वस्त्र से प्रमार्जन नहीं कर उस स्थान का सेवन करता है, उसके कायदुष्प्रणिधान अतिचार होता है।[5]

४. **सामायिक-स्मृतिअकरणता**—सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में सामायिक के विषय में एकाग्रता नहीं रखना स्मृतिअकरणता नामक अतिचार बताया है।[6] योगशास्त्रस्वोपज्ञटीका, श्रावकप्रज्ञप्ति-टीका आदि में 'सामायिक मुझे करनो है या नहीं करनी है अथवा सामायिक मैं कर चुका हूँ या नहीं,' इस प्रमाद के कारण सामायिक में स्मृति न रहना यह दोष माना है।[7]

५. **सामायिक-अनवस्थितकरण**—श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में सामायिक को करके शीघ्र वापस समाप्त कर देना या मनमाने ढंग से अनादरपूर्वक सामायिक करता है, उसे अनवस्थितकरण अतिचार माना है।[8]

---

१. "वर्णसंस्कारे भावार्थे चागमकत्वं चापलादिवाग्दुःप्रणिधान"—चारित्रसार, २४६
२. श्रावकप्रज्ञप्तिटोका, ३/४
३. "शरीरावयवानामनिभृतावस्थानं कायदुःप्रणिधानम्" —चारित्रसार, २४६
४. लाटीसंहिता, ५/१९१
५. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, ३१५
६. (क) "अनेकताग्रयं स्मृत्यनुपत्स्थानम्"—सर्वार्थसिद्धि, ७/३३
   (ख) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ७/३३
७. (क) श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, ३/६
   (ख) योगशास्त्रस्वोपज्ञटीका, ३/११६
८. "काऊण तक्खणत्तिय पारेइ करेइ वा जहिच्छाए अणवट्ठियसामाइयं
—श्रावकप्रज्ञप्ति टीका

चारित्रसार तथा लाटीसंहिता में इसका नाम अनादर देकर आलस्य, मोह एवं प्रमाद से, विना किसी उत्साह के सामायिक करने को अनवस्थितकरण अतिचार के रूप में प्रतिपादन किया है।

अतः सामायिक व्यक्ति के समभाव की साधना है, जिसमें व्यक्ति एकान्त में एकाग्रचित्त हो अपने आपको आत्मा के समीप करता है। इसका काल मुहूर्त भर का होता है। सामायिक में मन, वचन, काय में अस्थिरता उत्पन्न होना, सामायिक के समय का ध्यान नहीं रहना तथा सामायिक को शीघ्र पूरी कर लेना दोप माने गये हैं, जिससे व्रत भंग होने की संभावनाएं रहती हैं।

देशावकाशिकव्रत—

यह व्रत दिशापरिमाणव्रत का ही सूक्ष्म रूप है, दिशापरिमाणव्रत में दसों दिशाओं की जो मर्यादा की जाती है, उसी मर्यादा में कुछ काल या घण्टों के लिए विशेष मर्यादा निश्चित करना देशावकाशिकव्रत कहलाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने देशावकाशिकव्रत का उल्लेख नहीं किया है। उपासकदशांगसूत्र, आवश्यकसूत्र, रत्नकरण्डकश्रावकाचार, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, श्रावकप्रज्ञप्ति, योगशास्त्र एवं धर्मविन्दुप्रकरण में देशावकाशिक को शिक्षाव्रतों में स्थान दिया है। तत्त्वार्थसूत्र, पुरुपार्थसिद्ध्युपाय, उपासकाध्ययन, अमितगतिश्रावकाचार तथा वसुनन्दिश्रावकाचार में देशावकाशिक को गुणव्रतों में स्थान दिया है। देशावकाशिकव्रत को चाहे गुणव्रत माने, चाहे शिक्षाव्रत या चाहे शीलव्रतों में स्थान दिया जाय, इसके स्वरूप के प्रतिपादन में कहीं कोई भिन्नता नहीं है।

उपासकदशांगसूत्रटीका में निश्चित समय विशेष के लिए क्षेत्र की मर्यादा कर उससे बाहर किसी प्रकार की सांसारिक प्रवृत्ति नहीं करना देशावकाशिकव्रत कहा है। यह छठें व्रत का संक्षेप है। इसमें साधना दिन-रात या न्यूनाधिक समय के लिए की जाती है।[1] श्रावकप्रतिक्रमण-

---

१. "देसावगासियस्स" त्ति दिग्व्रतगृहीत दिक्परिमाणस्यैकदेशो देशस्तस्मिन्नवकाशोगमनादिचेष्टा स्थानं देशावकाशस्तेन निर्वृत्तं देशावकाशिकं-पूर्वगृहीत-दिग्व्रत संक्षेपरूपं सर्वव्रतसंक्षेपरूपं चेति"

—उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृ० ४५

सूत्र में कहा है कि दिशापरिमाणव्रत का प्रतिदिन संकोच किया जाता है और उस संकुचित सीमा के बाहर के आश्रव सेवन का त्याग एवं सीमा में मर्यादित वस्तु से ज्यादा वस्तु का सेवन नहीं करना, देशावकाशिकव्रत माना है।[1]

रत्नकरण्डकश्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, उपासकाध्ययन, चारित्र-सार, अमितगतिश्रावकाचार एवं सागारधर्मामृत आदि में दिग्व्रत में ग्रहण किये गये विशाल देश के काल की मर्यादा से प्रतिदिन अणुव्रतधारी श्रावकों द्वारा संकोच करना देशावकाशिकव्रत बताया है।[2] कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे जो लोभ और काम के विकार को शमन करने के लिए, पापों को छोड़ने के लिए, वर्ष आदि का प्रमाण करके पूर्व में किये गये सर्वदिशाओं के प्रमाण को फिर से संवरण करता है और इन्द्रियों के भोग-उपभोग का भी प्रतिदिन संवरण करता है, उसे देशावकाशिकव्रत कहा है।[3] वसुनन्दि-श्रावकाचार में जिस देश में रहते हुए व्रत भग का कारण उपस्थित हो उस देश के नियम से जो गमननिवृत्ति की जाती है वह देशावकाशिकव्रत कहा जाता है।[4] प्रश्नोत्तरश्रावकाचार में दशों दिशाओं की मर्यादा नियत कर जो बुद्धिमान उसके बाहर नहीं जाते और भीतर ही रहते है, उसे देशव्रत कहा है।[5] लाटीसंहिता में किसी नियत समय तक त्याग करने को देशव्रत कहा है।[6]

---

१. श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र—अणुव्रत, १०

२. (क) "देशावकाशिकं स्यात्कालपरिच्छेदनेन देशस्य।
प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य॥

—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ५/२

(ख) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १३९

(ग) उपासकाध्ययन, ४/५

(घ) चारित्रसार-श्रावकाचार संग्रह, पृष्ठ ३४३

(ङ) अमितगतिश्रावकाचार, ७८

(च) सागारधर्मामृत, ५/५

३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ६६-६७

४. वसुनन्दिश्रावकाचार, २१५

५. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, १८/४

६. लाटीसंहिता, ५/१२२

देशावकाशिकव्रत की सीमा एवं काल—

उपासकदशांगसूत्रटीका में इसकी सीमा दिन-रात या न्यूनाधिक समय के लिए बताई गयी है।[1] रत्नकरण्डकश्रावकाचार, प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, सागारधर्मामृत एवं लाटीसंहिता में देशावकाशिकव्रत में घर, मोहल्ला, ग्राम, खेत, वन, नदी आदि की मर्यादा भी एक निश्चित समय के लिए करने को कहा है। यह समय वर्ष, ऋतु, अयमास, चतुर्मास, पक्ष और नक्षत्र के रूप में हो सकता है।[2]

अतिचार—

उपासकदशांगसूत्र में देशावकाशिकव्रत के पाँच अतिचार बतलाये हैं, यथा—

> "तयाणंतरं च णं देसावगासियस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा आणवणप्पओगे, पेसवणप्पओगे, सद्दाणुवाए, रूवाणुवाए, बहियापोग्गलपक्खेवे"

अर्थात् देशावकाशिकव्रत के पाँच अतिचार जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं हैं। ये पाँच अतिचार हैं—आनयन प्रयोग, प्रेष्य प्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात, बहिःपुद्गलप्रक्षेप।[3] प्रायः सभी दिगम्बर एवं श्वेताम्बर आगम तथा परवर्ती ग्रन्थों में पाँच अतिचारों को गिनाकर यही नाम दिये हैं। तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्रावकप्रज्ञप्ति, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, चारित्रसार, योगशास्त्र, अमितगतिश्रावकाचार, सागारधर्मामृत, प्रश्नोत्तरश्रावकाचार एवं लाटीसंहिता में भी आनयन प्रयोग, प्रेष्य प्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात एवं पुद्गलप्रक्षेप ही नाम दिये हैं।

---

१. उपासकदशांगसूत्रटीका—आत्माराम, पृ० ८०

२. (क) "गृहहारिग्रामाणां क्षेत्रनदीदावयोजनानां च।
देशावकाशिकस्य स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धाः॥
संवत्सरमृतुरयनं मासचतुर्मासपक्षमृक्षं च।"

—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ५/३-४

(ख) प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, १८/५-६ (ग) सागारधर्मामृत, ५/२६

(घ) लाटीसंहिता, ५/१२२

३. उवासगदसाओ, १/५४

१. आनयन प्रयोग—उपासकदशांगसूत्रटोका में मर्यादित क्षेत्र के अन्दर उपयोग के लिये मर्यादित क्षेत्र के वाहर के पदार्थों को मँगाने को आनयन प्रयोग कहा है।[1] यथा—

"इहविशिष्टावधि केभूदेशाभिग्रहेपरतः स्वयंगमनायोगात् यदन्यः सच्चित्तादिद्रव्यानयने प्रयुज्यतेसंदेशकप्रदानादिनात्वभेदमानेयमित्यानयन प्रयोगः"

श्रावकप्रज्ञप्तिटीका एवं प्रश्नोत्तरश्रावकाचार में भी यही स्वरूप प्रतिपादित किया है।[2]

२. प्रेष्य-प्रयोग—उपासकदशांगसूत्रटीका में मर्यादित किये हुये क्षेत्र से वाहर के कार्यों का सम्पादन करने के लिये नौकर आदि को भेजने को प्रेष्य-प्रयोग कहा है।[3] यथा—

"वलाद्विनियोज्यः प्रेष्यस्तस्यप्रयोगो यथाभिगृहीत प्रवीचारदेश व्यतिक्रमभयात् त्वयावस्यमेवगत्वामभगवाद्यानेयमिदंवा तत्र कर्त्तव्यंमित्येवंभूतः"

श्रावकप्रज्ञप्तिटीका एवं प्रश्नोत्तरश्रावकाचार में मर्यादित क्षेत्र के वाहर किसी नौकर आदि को भेजकर वस्तु मँगवाने को प्रेष्य प्रयोग वताया है।[4]

३. शब्दानुपात—उपासकदशांगसूत्रटीका में उच्चारण और शब्द के द्वारा नियत सीमा के वाहर की वस्तु मँगाने को शब्दानुपात कहा है।[5] यथा—

"शब्दस्याऽनुपतनमुच्चारणं ताह येन परकीयश्रवणविवरमनुपतत्यसाविति"

---

१. उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ४५
२. (क) श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, पृष्ठ १९१ (ख) प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, १८/१७
३. उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ४५
४. (क) श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, १९१
(ख) प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, १८/१५
५. उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ४५

श्रावकप्रज्ञप्तिटीका एवं प्रश्नोत्तरश्रावकाचार में मर्यादा के भीतर से अन्य व्यक्ति को जो मर्यादा से बाहर है, खांसकर या शब्दों का इशारा करते हैं, उसे शब्दानुपात माना है।[1]

४. रूपानुपात—उपासकदशांगसूत्रटीका में नियतक्षेत्र के बाहर का काम करने के लिये दूसरे को हाथ आदि का इशारा कर समझाना रूपानुपात है।[2] यथा—

"अभिगृहीतदेशाद्बहिः प्रयोजन सद्भावे शब्दमनुच्चारतएवपरेषांस्वसमीपानयनार्थं स्वशरीररूपानुदर्शनं"

श्रावकप्रज्ञप्तिटीका और प्रश्नोत्तरश्रावकाचार में बाहर के व्यक्ति को रूप दिखाकर काम लेना, रूपानुपात माना है।[3]

५. बहिःपुद्गल प्रक्षेप—उपासकदशांगसूत्रटीका में कंकड़ आदि फेंककर दूसरों को प्रबोधित करने को पुद्गलप्रक्षेप कहा है।[4] यथा—

"प्रयोजन सद्भावेपरेषांप्रबोधनायलेष्टादिपुद्गलप्रक्षेप"

श्रावकप्रज्ञप्तिटीका एवं प्रश्नोत्तरश्रावकाचार में भी यही स्वरूप है।[5]

इसलिए कहा जा सकता है कि दिग्व्रत का ही सूक्ष्मरूप देशावकाशिकव्रत है, जिससे पूर्व में की गयी मर्यादा को कम किया जाता है। अपने जीवन को और अधिक संयमित बनाने के लिए इसको ग्रहण करना आवश्यक है। मर्यादित सीमा के बाहर से वस्तु मँगाना, भिजवाना, शब्द करके चेताना, रूप दिखाकर अपने भाव प्रकट करना तथा कंकड़ आदि फेंककर कार्य की सिद्धि करना इसके दोष हैं।

---

१. (क) श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, १९१
   (ख) प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, १८/१६
२. उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृ० ४५
३. (क) श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, पृष्ठ १९१
   (ख) प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, १८/१८
४ उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृ० ४५
५. (क) श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, पृष्ठ १९१/१९२
   (ख) प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, १८/१९

पौषधोपवास व्रत

उपासकदशांगसूत्रटीका में पौषध का अर्थ अष्टमी आदि पर्व और उपवास का अर्थ अशन, पान, खादिम, स्वादिम आदि चार प्रकार के आहार के त्याग को कहकर इन दोनों के सम्मिलित रूप को पौषधोपवास कहा है।[1] इसमें उपवास के साथ पापमय कार्यों का भी त्याग किया जाता है। वह अपने दैनिक कार्यो के स्थान निश्चित कर लेता है। श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र में एक दिन-रात के लिए चारों प्रकार के आहार का त्याग, अब्रह्मचर्य सेवन, मणि, सुवर्ण, पुष्पमाला, सुगन्धितचूर्ण, तलवार, हल, मूसल आदि सावद्ययोगों के त्याग करने को पौषधोपवास माना है।[2] रत्नकरण्डकश्रावकाचार में चारों प्रकार के आहार-त्याग को उपवास तथा एक वार भोजन करने को पौषधोपवास कहा है। इस प्रकार एकाशनरूप पौषध के साथ उपवास करने को पौषधोपवास कहा है।[3] कार्तिकेयानुप्रेक्षा के अनुसार जो पर्व के दिनों स्नान, विलेपन, स्त्री-संसर्ग, गंध, धूप, आदि का परिहार करता है, उपवास, एकाशन या विकाररहित निरस भोजन करता है, वह पौषधोपवासधारी कहा जाता है।[4] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में सर्वसावद्य कार्यों को छोड़कर सोलह प्रहरों को व्यतीत करने एवं उसके उस पौषधोपवास काल में पूर्ण अहिंसाव्रत का पालन करने को पौषधोपवासव्रत वताया गया हैं।[5] उपासकाध्ययन में कहा गया है कि इस दिन विशेष पूजा, क्रिया एवं व्रतों का आचरण कर धर्म-कर्म को वढ़ाना चाहिए। पर्व के दिनों में रसों का त्याग, एकाशन, एकान्त-

---

१. "पौपधशब्दोऽष्टम्यादि पर्वसुरूढः तत्रपौपवे उपवासः पोपधोपवासः सचाहारादि विपयभेदाच्चतुर्विधः इतितस्य"

—उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ४५

२. श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र —अणुव्रत, ११

३. "चतुराहार विसर्जनमुपवासः प्रोपधः सकृद्-भुक्तिः।
स प्रोपधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति॥"

—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, १०९

४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा. ५७

५. पुरुपार्थसिद्धयुपाय, १५७

निवास, उपवास, आदि करना चाहिए।[1] चारित्रसार, अमितगति-श्रावकाचार और श्रावकप्रज्ञप्ति में उपासकदशांगसूत्रटीका की तरह ही चारों प्रकार के आहार-त्याग को पौषध कहा है।[2] योगशास्त्र में पर्व के दिनों में उपवास आदि तप करना, पापमय क्रियाओं का त्याग करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, शारीरिक शोभा का त्याग करना पौषधोपवास है।[3] तत्त्वार्थभाष्य में पर्वकाल को पौषध का काल कहते हैं। आहार का परित्याग करके धर्म सेवन के लिए धर्मायतन में निवास करने को पौषध और पर्वकाल में जो उपवास किया जाय उसे पौषधोपवास व्रत कहा है।[4]

पौषध की तिथियाँ—उपासकदशांगसूत्र में अभयदेवसूरि ने द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी तथा चतुर्दशी को पर्वतिथियाँ माना है।[5] रत्न-करण्डकश्रावकाचार में अष्टमी एवं चतुर्दशी को पर्व तिथियाँ बतायी हैं।[6] कार्तिकेयानुप्रेक्षा एवं श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में भी अष्टमी एवं चतुर्दशी को पर्व तिथि कहा है।[7] योगशास्त्र और तत्त्वार्थभाष्य में अष्टमी-चतुर्दशी पूर्णिमा तथा अमावस्या को पर्वतिथियाँ स्वीकार की है।[8] इन तिथियों के दिनों में पौषधव्रत का पालन विशेष रूप से किया जाता है।

चार आहारों का त्याग—उपासकदशांगसूत्रटीका में अशन, पान, फल-मेवा आदि औपधि, स्वादिष्ट पदार्थों के त्याग को आवश्यककरणीय

---

१. उपासकाध्ययन, ७१८/१९

२. (क) चारित्रसार, २४७
   (ख) अमितगतिश्रावकाचार, ७/१२
   (ग) श्रावकप्रज्ञप्ति, ३२१/२२

३. योगशास्त्र, ३/८५

४. "पौपधोपवास नाम पौषवे उपवासः, पौपवोपवासः
   पौपधः पर्वेत्यनर्थान्तरम्" —तत्त्वार्थभाष्य, ७/१६

५. उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ४५

६. "पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोपधोपवासस्तु —रत्नकरण्डकश्रावकाचार, १०६

७. (क) कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ५७
   (ख) श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, ३२१

८. (क) योगशास्त्र, ३/८५
   (ख) तत्त्वार्थभाष्य, ७/१६

कहा है ।[1] श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र, रत्नकरण्डकश्रावकाचार, चारित्रसार, श्रावकप्रज्ञप्ति में भी चारों ही प्रकार के आहार का त्याग करने का उल्लेख आया है ।[2]

इस प्रकार पौषधोपवास व्रत में अशन, पान, खादिम, स्वादिम इन चारों आहारों का, शरीर की वेशभूषा, स्नान आदि का, मैथुन का तथा अन्य समस्त पापपूर्णकार्यों का त्याग किया जाता है ।

अतिचार—

इस शिक्षा व्रत के भी पाँच अतिचार माने गये हैं । उपासकदशांग सूत्र, श्रावकप्रज्ञप्ति आदि में बिना देखे या अच्छी तरह नहीं देखे हुए शय्या का उपयोग, बिना पूँजे या अच्छी तरह पूँजे बिना शय्या का उपयोग, बिना देखे या अच्छी तरह देखे बिना शौचादि स्थानों का उपयोग, बिना पूँजे या अच्छी तरह से पूँजे बिना शौचादि स्थानों का उपयोग तथा विधिपूर्वक पौषध नहीं करना अतिचारों में सम्मिलित किया है ।[3] रत्नकरण्डकश्रावकाचार, तत्त्वार्थसूत्र, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, चारित्रसार, अमितगतिश्रावकाचार, योगशास्त्र तथा सागारधर्मामृत में बिना देखे सामग्री को लेना, बिना देखे-शोधे आसन, शय्या वगैरह का बिछाना, बिना देखे-शोधे मल-मूत्रादि का

---

१. उपासकदशांगसूत्र—आत्माराम पृ० ८२

२. (क) श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र—अणुव्रत, ११

(ख) रत्नकरण्डकश्रावकाचार, १०६

(ग) चारित्रसार, २४७

(घ) श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, ३२२

३. क. "पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा-तंजहा-अप्पडिलेहिय दुप्पडिलेहिय सिज्जासंथारे, अप्पमज्जियदुप्पमज्जियसिज्जासंथारे, अप्पडिलेहिय दुप्पडिलेहिय उच्चारपासवणभूमी, अप्पमज्जियदुप्पमज्जिय उच्चारपासवण भूमी, पोसहोवासस्स सम्मं अणणुपालणया"

—उवासगदसाओ, १/५५

ख. श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र—अणुव्रत, ११

ग. श्रावकप्रज्ञप्ति, ३२३

उत्सर्ग करना, उपवास करने में आदर नहीं करना और उपवास की क्रियाओं को भूल जाना पौषधव्रत के अतिचार माने हैं।[1]

इन सभी पर दृष्टिपात करते हुए उपासकदशांगसूत्र के आधार से इनके स्वरूप को इस प्रकार देखा जा सकता है—

१. **अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित शय्यासंस्तार**—उपासकदशांगसूत्रटीका में विना देखे-भाले या अच्छी तरह देखे विना शय्यादि का उपयोग करना अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित शय्यासंस्तार अतिचार कहा है।[2] यथा—

"अप्रत्युपेक्षितोजीवरक्षार्थं चक्षुषाननिरीक्षितो..........चेतोवृत्तितयाऽसम्यक्निरीक्षितः शय्याशयनं तदर्थं संस्तारक"

उपासकदशांगसूत्रटीका में शय्या से तात्पर्य आसन, कम्वल आदि से है। सर्वार्थसिद्धि, श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, चारित्रसार, तत्त्वार्थवार्तिक में विना देखे, विना शोधे विस्तर के विछाने, घड़ी करने आदि को पहला अतिचार वताया है।[3]

२. **अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्यासंस्तार**—उपासदशांगसूत्रटीका में शय्यादि का उपयोग कोमल वस्त्र से झाड़े विना और व्याकुल चित्त से झाड़-पोंछकर करने को अतिचार माना है।[4] यथा—

---

१. क. "ग्रहणविसर्गाऽऽस्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे"
—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ११०

ख. तत्त्वार्थसूत्र, ७/३४

ग. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १९२

घ. चारित्रसार (श्रावकाचारसंग्रह), २४७

ङ. अमितगतिश्रावकाचार, ७/१२

च. योगशास्त्र, ३/११७

छ. सागारधर्मामृत, ५/४०-४२

२. क. उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ४५-४६

३. क. सर्वार्थसिद्धि, ७/३४

ख. चारित्रसार, पृष्ठ १२

ग. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, ३२३

४. उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ४६

"दुप्रत्युपेक्षितः शय्यासंस्तारकः एतदुपभोगस्यातिचार हेतुत्वादयमतिचार"

श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में भी यही स्वरूप है। परन्तु दिगम्बर ग्रन्थों—सर्वार्थसिद्धि, चारित्रसार, तत्त्वार्थवार्तिक में इस अतिचार का अर्थ बिना शोधे और बिना देखे पूजा के उपकरणों जिनमें गन्ध, माला, धूपवस्त्रादि है, से ग्रहण किया है।[1]

३. **अप्रतिलेखित दुष्प्रतिलेखित उच्चारप्रस्रवणभूमि**—उपासकदशांगसूत्रटीका में एक समान बिना देखे और बिना शोधे भूमि पर मल-मूत्रादि छोड़ने को अप्रत्यावेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग कहा है।[2] यथा—

"प्रश्रवणंमूत्रं तयोर्निर्मितं भूमिःस्थंडिलएत्तेचत्वारोऽपि प्रमादय"

सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक, चारित्रसार, श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में भी यही स्वरूप प्रतिपादित किया गया है।[3]

४. **अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित उच्चारप्रस्रवणभूमि**—उपासकदशांगसूत्रटीका और श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में मलमूत्रादि को, भूमि को पूंजे बिना विसर्जन करने पर, उस स्थिति को अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित उच्चार-प्रस्रवण भूमि अतिचार कहा है।[4]

५. **पौषध सम्यकननुपालन**—उपासकदशांगसूत्रटीका में पौषध में अशन-पान आदि चारों आहारों का त्याग, शरीर-सत्कार, वेशभूषा का त्याग,

---

१. क. सर्वार्थसिद्धि, ७/३४
   ख. तत्त्वार्थवार्तिक, ७/३४/३
   ग. चारित्रसार, पृष्ठ १२
२. उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ४६
३. क. सर्वार्थसिद्धि, ७/३४
   ख. चारित्रसार, १२
   ग. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, ३२३
४. क. उपासकदशांगटीका में तीसरे व चौथे को एक साथ वर्णित किया है।
   ख. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, ३२३

मैथुन, समस्त सावद्य व्यापार का त्याग तथा इनका स्मरण नहीं रखने की स्थिति को पौषध सम्यकननुपालन अतिचार कहा है।[1] यथा—

"कृतपौषधोपवासस्यास्थिरचित्ततयाऽऽहार शरीर सत्काराब्रह्म-व्यापाराणामभिलषणादननुपालना पौषधस्येति, अस्यचातिचारत्व भावतो विरतेर्बाधितत्वादिति"

श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में भी यही स्वरूप प्रतिपादित है।[2]

अतिथिसंविभाग व्रत—

अतिथि का सामान्य अर्थ जिसके आने की कोई तिथि नहीं हो, दिन या समय नहीं हो, से किया जाता है। उपासकदशांगसूत्रटीका में उचित रूप से मुनि आदि चारित्रसम्पन्न योग्यपात्रों को अन्न, वस्त्र आदि का यथाशक्ति वितरण को अतिथिसंविभाग व्रत कहा है।[3] यह चतुर्थ शिक्षा-व्रत है। उपासकदशांगसूत्रटीका में भी कहा है कि श्रावक ने अपने लिए जो आहार आदि का निर्माण किया है या अन्य साधन प्राप्त किये हैं, उनमें से एषणा समिति से युक्त निस्पृह श्रमण-श्रमणियों को कल्पनीय तथा ग्राह्य आहार आदि देने के लिए विभाग करना अतिथिसंविभाग व्रत है।[4] यथा—

"यथासिद्धस्य स्वार्थे निर्वर्तितस्येत्यर्थः अशनादि समिति संगतत्वेन पश्चात्कर्मादिदोष परिहारेण विभजनं साधवे दावद्वारेण विभाग-करणे यथा संविभाग"

श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र में निर्ग्रन्थ साधुओं को अचित्त दोष रहित अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य आहार तथा औषधि का योग मिलने पर दान देने को अतिथिसंविभाग व्रत कहा है।[5] रत्नकरण्डकश्रावकाचार में वैय्यावृत्य

---

१. उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ४६
२. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, ३२४
३. उपासकदशांगसूत्रटीका—मुनिघासीलाल, पृष्ठ २६१
४. उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृ० ४६
५. श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र—अणुव्रत, १२

नाम देकर कहा है कि गृह से रहित अपना धर्म पालन करने के लिए उपचार एवं उपकार की अपेक्षा से रहित साधुओं को विधिपूर्वक अपने वैभव के अनुसार दान देना चाहिए।[1] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में श्रद्धा और गुणों से युक्त ज्ञानी पुरुष तीन प्रकार के पात्रों को नौ प्रकार की दान विधि से संयुक्त होकर दान देता है वह चतुर्थ शिक्षाव्रतधारी होता है।[2]

पुरुषार्थसिद्धयुपाय में दाता के गुणों से युक्त श्रावक को स्वपर अनुग्रह के हेतु विधिपूर्वक यथाजातरूप अतिथि साधु के लिए द्रव्य विशेष का संविभाग अतिथिसंविभाग बताया गया है।[1] श्रावकप्रज्ञप्ति में न्याय से उपार्जित तथा कल्पनीय अन्न आदि को जो देशकाल, श्रद्धा, सत्कार और क्रमसे युक्त अतिशय भक्तिके साथ दिया जाता है, उसे चौथा शिक्षाव्रत कहा है।[2] उपासकाध्ययन में इसे दान कहकर गृहस्थों को विधि, देश, आगम, पात्र और काल के अनुसार दान देना चाहिए, ऐसा भी कहा है।[3] चारित्र-सार आदिमें संयमकी रक्षा करते हुए जो विहार करते रहते हैं, ऐसे अतिथि के लिए आहारादि का जो विभाग किया जाता है, उसे अतिथिसंविभाग-व्रत कहा है। योगशास्त्र में अतिथियों को चार प्रकार के आहार भोजन, वस्त्र, मकान देना अतिथिसंविभाग बताया है।[4] वसुनन्दिश्रावकाचार तथा सागारधर्मामृत में भी पुरुषार्थसिद्धयुपाय के समान ही इसका स्वरूप प्रतिपादित है।[5] लाटीसंहिता में इसे दान कहकर उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रों में से जो भी मिल जाये, उसे विधिपूर्वक दान देना चाहिए, जो प्रासुक, शुद्ध एवं विनय पूर्वक हो।[6]

---

१. "दानं वैयावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।
   अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन॥"
   —रत्नकरण्डकश्रावकाचार, १११

२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ५९

१. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, १६८

२. श्रावकप्रज्ञप्ति, ३२५

३. उपासकाध्ययन, ७३५

४. योगशास्त्र, ३/८७

५. क. वसुनन्दिश्रावकाचार, २१८
   ख. सागारधर्मामृत, ५/४२

६. लाटीसंहिता, २२२

दाता के सात गुण—रत्नकरण्डकश्रावकाचार में श्रावक के सात गुणों का संकेत प्राप्त होता है जिसमें श्रद्धा, संतोष, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा एवं सत्य गुणों का नामोल्लेख है।[१] पुरुषार्थसिद्धयुपाय में फल की अपेक्षा न करना, क्षमा धारण करना, निष्कपटभाव रखना, ईर्ष्या नहीं करना, विषाद नहीं करना, प्रमोदभाव रखना, अहंकार नहीं करना, ये सब दाता के गुण हैं।[२] उपासकाध्ययन में रत्नकरण्डकश्रावकाचार में सत्य की जगह शक्ति करके शेष वही नाम दिये हैं।[३] चारित्रसार, उपासकाध्ययन में संतोषकी जगह ज्ञान नाम देकर बाकी पूर्वोक्त नाम ही गिनाये हैं।[४] वसुनन्दिश्रावकाचार में भी उपासकाध्ययन का ही आधार रखा है।[५] सागारधर्मामृत मे भक्ति, श्रद्धा, सत्व, तुष्टि, ज्ञान, क्षमा, अलौल्य ये दाता के सात गुण कहे हैं।[६]

अतिथिसंविभाग के पाँच अधिकार—तत्त्वार्थसूत्र में दान-विधि, द्रव्य, दाता एवं पात्र की विशेषताओं से युक्त चार भेद बताये हैं।[७] उपासकाध्ययन में भी यही चार भेद हैं। परन्तु वसुनन्दिश्रावकाचार में पात्रों के भेद, दातार, दान-विधान, दातव्य तथा दान का फल ये पाँच अधिकार माने हैं।[८] इन चार या पाँच भेदों के भी अनेक उपभेद हैं, जिनका वर्णन क्रम से निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

१. **पात्रों के भेद**—जिसमें मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शनादि गुणों का संयोग हो वह पात्र कहलाता है। इसके तीन भेद हैं यथा—अविरत

---

१. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ११३ व विवेचन
२. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, १६९
३. "श्रद्धा तुष्टिभक्तिविज्ञानमलुब्धता क्षमा, शक्तिः"
—उपासकाध्ययन, सूत्र, ७७८
४. चारित्रसार (श्रावकाचार संग्रह), पृ० २४९
५. वसुनन्दिश्रावकाचार, २२४
६. सागारधर्मामृत ५/४७
७. "विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः"
—तत्त्वार्थसूत्र, ७/३९
८. वसुनन्दिश्रावकाचार, २२०

सम्यग्दृष्टि, जघन्य श्रावक, देशविरतमध्यमपात्र एवं सकलविरत-उत्तमपात्र। प्रायः सभी ग्रन्थों में यही भेद है।[1]

२. दातार—उपर्युक्त दाता के गुणों का जो वर्णन है, वही दातार है।

३. दातव्य—रत्नकरण्डकश्रावकाचार में आहार, औषधि, उपकरण और आवास इन चारों को दान कहा है।[2] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में औषधिदान, भोजनदान, शास्त्रदान और अभयदान माना है।[3] वसुनन्दिश्रावकाचार में आहार, औषधि, शास्त्र और अभय ये चार भेद किये हैं।[4]

४. विधि—कार्तिकेयानुप्रेक्षा में बताया है कि उत्तम पात्र को उत्तम भक्ति से दान देना चाहिए।[5] उपर्युक्त जिस नवधा भक्ति का वर्णन है, वही दान देने की विधि नाम से भी सम्बोधित की जाती है।

५. फल—रत्नकरण्डकश्रावकाचार में वर्णित है कि दान से पापकर्म दूर होते हैं एवं कीर्ति की प्राप्ति होती है।[6] योगशास्त्र एवं वसुनन्दिश्रावकाचार में भी दान का फल उत्तम कहा गया है।[7]

अतिथिसंविभाग के चार प्रकार—श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र, रत्नकरण्डकश्रावकाचार में अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, कम्बल और चौका पट्टा आदि औषध को दान के प्रकार माने हैं।[8] उपासकाध्ययन में अभयदान, आहार-

---

१. क. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १७१
 ख. अमितगतिश्रावकाचार, १०/३
 ग. वसुनन्दिश्रावकाचार, २२१-२२३
 घ. सागारधर्मामृत, ५/४४

२. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ११७

३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ६१

४. वसुनन्दिश्रावकाचार, २३३

५. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ६५

६. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ११४-११५

७. क. योगशास्त्र, ३/८६
 ख. वसुनन्दिश्रावकाचार, २४०-२४२

८. क. "असणपाणखाइमसाइमेणं, वत्थपडिग्गह कंवल पायपुच्छणेणं, पडिहारियपीढ फलग सेज्जासंथारे, ओसह भेसज्जेणं ॥
 —श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र—अणुव्रत, १२
 ख. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ११७

दान, औषधदान और शास्त्रदान ये चार भेद माने हैं।[1] चारित्रसार में भिक्षा, उपकरण औषधि तथा प्रतिश्रय के भेद से चार प्रकार बताये हैं।[2]

अतिथि की भक्ति—दिगम्बर ग्रन्थों में वर्णित नवधा भक्ति का भी सम्मिश्रण इस व्रत में माना है। रत्नकरण्डकश्रावकाचार, कार्तिकेयानुप्रेक्षा में नवधा भक्ति का उल्लेख प्राप्त होता है परन्तु उपासकाध्ययन में इसके नौ प्रकार बताते हुए कहा है कि अतिथि को देखते ही उठकर स्वागत योग्य शब्द बोलना, ऊँचे आसन पर बैठाना, चरणों को धोकर पूजा करना, प्रणाम करना, फिर मन, वचन, काय, अन्न और जल शुद्ध हैं, ऐसा कहना, इसे नवधा भक्ति माना है।[3] वसुनन्दिश्रावकाचार और सागारधर्मामृत आदि में भी इसी नवधा भक्ति का विधान है।[4]

अतिचार—उपासकदशांगसूत्र, आवश्यकसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र, श्रावकप्रज्ञप्ति, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, चारित्रसार, योगशास्त्र, सागारधर्मामृत तथा लाटीसंहिता में अतिथिसंविभाग के सचित्त निक्षेपण, सचित्तपिधान, कालातिक्रम, परव्यपदेश एवं मत्सरिता ये पाँच अतिचार माने हैं।[5]

---

१. उपासकाध्ययन, ७३९

२. "स चतुर्विधः भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रय भेदात्"
—चारित्रसार (श्रावकाचारसंग्रह) पृ० २४९

३. उपासकाध्ययन, ७७७

४. क. वसुनन्दिश्रावकाचार, २२५
ख. सागारधर्मामृत ५/४५

५. क. "अहासंविभागस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा-सचित्तणिक्खेवणया, सचित्तपेहणया, कालाइक्कमे, परववएसे, मच्छरिया"
—उवासगदसाओ, १/५६
ख. आवश्यकसूत्र-बारहवां अणुव्रत
ग. तत्त्वार्थसूत्र, ७/३६
घ. श्रावकप्रज्ञप्ति, ३२७
ङ. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, १९४
च. चारित्रसार (श्रावकाचार संग्रह) पृष्ठ, ३२४
छ. योगशास्त्र, ३/११८
ज. सागारधर्मामृत, ५/५४
झ. लाटीसंहिता, ५/६१

रत्नकरण्डकश्रावकाचार में हरित से ढकी वस्तु देना, हरित पर रखी वस्तु देना, अनादरपूर्वक आहार देना, दानविधि भूल जाना, अन्य दाता से मत्सर भाव रखना ये पांच अतिचार बताये हैं।[१] अमितगतिश्रावकाचार में उपासकदशांग में वर्णित परव्यपदेश की जगह दूसरों से दान दिलाना वर्णित किया है।[२] अतिचार के इन पांचों स्वरूपों को इस प्रकार विवेचित किया जा सकता है।

१. सचित्तनिक्षेपण—उपासकदशांगसूत्रटीका में दान न देने की बुद्धि से अचित्त वस्तुओं को सचित्त व्रीहि आदि में मिला देना सचित्तनिक्षेपण कहा है।[३] यथा—

"सचित्तणिक्खेवणेत्यादिसच्चित्तेषु व्रीह्यादिषु निक्षेपणमन्नादेर-दानबुद्धयामातृस्थानतः"

चारित्रसार, सर्वार्थसिद्धि व लाटीसंहिता में देने योग्य आहार को सचित्त कमल आदि पर रखना सचित्तनिक्षेपण कहा है।[४]

२. सचित्तपिधान—उपासकदशांगसूत्रटीका में पूर्वोक्त भावना से सचित्त वस्तु को अचित्त से एवं अचित्त वस्तु को सचित्त से ढक देना सचित्त-पिधान माना है।[५] यथा—

"सचित्तनिक्षेपणमेवं सचित्तेनैफलादिनास्थगनम् सचित्तपिधानं"

चारित्रसार, श्रावकप्रज्ञप्तिटीका और लाटीसंहिता में आहार को सचित्त पत्रादि से ढकना सचित्तपिधान कहा है।[६]

---

१. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, १२१
२. अमितगतिश्रावकाचार, २।४
३. उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृ० ४७
४. क. "सचित्ते पद्मपत्रादौ निक्षेपः सचित्तनिक्षेपः"—सर्वार्थसिद्धि, ७/३६
 ख. चारित्रसार (श्रावकाचार संग्रह) पृ० २४९
 ग. लाटीसंहिता, ५/२२६
५. उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृ० ४७
६. क. "सचित्तेनावरणं सचित्तपिधानम्"—चारित्रसार, पृ० १४
 ख. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, ३२७
 ग. लाटीसंहिता, ५/२२७

३. **कालातिक्रम**—उपासकदशांगसूत्रटीका में साधुओं के भोजन लेने के समय को टाल देना अर्थात् भोजन समय को टालकर भिक्षा देने को तैयार होना कालातिक्रम कहा है।[1] यथा—

"कालातिक्रमः कालस्यसाधुभोजनकालस्यातिक्रम उल्लंघनं कालातिक्रमः"

चारित्रसार, सर्वार्थसिद्धि, श्रावकप्रज्ञप्तिटीका तथा लाटीसंहिता में आहार देने के समय उल्लङ्घन कर आगे या पीछे आहार दे तो इसे कालातिक्रम बताया है।[2]

४. **परव्यपदेश**—उपासकदशांगसूत्रटीका में न देने की नियति से अपनी वस्तु पराई बताना परव्यपदेश माना गया है।[3] यथा—

"परव्यपदेशः परकीयमेतत्तेनसाधुभ्योनदीयते इति साधु समक्ष"

सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थभाष्य, चारित्रसार तथा श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में अन्य दाता की वस्तु बताकर दान देने को परव्यपदेश कहा है।[4]

५. **मत्सरिता**—उपासकदशांगसूत्रटीका में ईर्ष्यावश आहार आदि देना यथा—'अमुक ने अमुक दान दिया है, मैं इससे कम नहीं हूँ' इस भावना से दान देना या क्रोधपूर्वक भिक्षा देने को भी मात्सर्य कहा है।[5] यथा—

---

१. उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृ० ४७

२. क. "अणगाराणामयोग्ये काले भोजनं कालातिक्रम इति"—चारित्रसार, पृ० १४
   ख. सर्वार्थसिद्धि, ७/३६
   ग. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, ३२७
   घ. लाटीसंहिता, ५/२३०

३. उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृ० ४७

४. क. "अन्यदातृदेयार्पणं परव्यपदेशः"—सर्वार्थसिद्धि
   ख. तत्त्वार्थभाष्य, ७/३६
   ग. चारित्रसार, पृ० १४
   घ. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, ३२७

५. उपासकदशांगसूत्रटीका, —अभयदेव, पृ० ४८

"मत्स्यरिताय परेणेदं दत्तं किमहंतस्मादपिकृपणहीनोवाऽतोऽह-मपिददामीत्येव रूपोदानप्रवर्त्तकविकल्पो"

श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में भी यही स्वरूप है।[1] चारित्रसार में आहार देते हुए भी आदर के विना देना मात्सर्य कहा है।[2] लाटी-संहिता में आहार देने पर यह गर्व करे कि निर्दोष आहार सिर्फ मैंने ही दिया है तो यह मात्सर्य कहा गया है।[3]

इस प्रकार अतिथि का अर्थ जिसके आने की कोई तिथि नियत नहीं हो, से किया गया है। श्रावक के लिए ऐसे व्यक्तियों में स्वधर्मी तथा साधु-साध्वीजन हैं, उन्हें अपने वनाए हुए आहार, वस्त्र आदि में से कुछ अंशदान करने को अतिथिसंविभागव्रत माना है। अचित्त को सचित्त कहना, सचित्त को अचित्त पर रखना, दान देने के समय को टाल देना, ईर्ष्याभाव से दान देना या दान नहीं देने के उद्देश्य से अपनी वस्तु, दूसरों की कहना अतिथि सविभागव्रत के वाधक तत्त्व कहे गये हैं। इनका परिहार कर इस व्रत का पालन करना चाहिये।

सल्लेखना —

जव व्यक्ति शारीरिक रूप से अत्यन्त दुर्वल हो जाय, धार्मिक अनुष्ठानों को करने में असमर्थता अनुभव करे तव व्यक्ति को शान्त चित्तसे शरीर को पोपण करने की क्रियाएं छोड़ देनी चाहिए। उपासकदशांग आदि अनेक ग्रन्थों में इसे स्वतन्त्ररूप से वर्णित किया है, परन्तु कुछ आचार्यों ने इसे शिक्षाव्रत में भी स्थान दिया है। आचार्य कुन्दकुन्द एवं वसुनन्दिश्रावका-चार ने इसे शिक्षाव्रत माना है। उपासकदशागसूत्र में "अपच्छिममारणं तियसंलेहणाझूसणाराहणाए" कहकर इसका अर्थ मरण तकके लिए की गई प्रतिज्ञा और जिसके पीछे कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है, किया है।[4] उपासक-दशांगसूत्रटीका में सल्लेखना का अर्थ शरीर एवं कषायों को कृश करना वताया है, जोषणा का अर्थ प्रीति या सेवन करना तथा आराधना का अर्थ

---

१. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, ३२७

२. चारित्रसार, पृ० १४

३. लाटीसंहिता, ५/२२९

४. उवासगदसाओ, १/५७

जीवन में उतारना किया है।[1] तत्त्वार्थसूत्र में मरणकाल के उपस्थित होने पर प्रीतिपूर्वक नियम को सल्लेखना माना है।[2] रत्नकरण्डकश्रावकाचार में निष्प्रतिकार उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा एवं रोग के उपस्थित होने पर धर्म की रक्षा के लिए शरीरका परित्याग करनेको सल्लेखना बताया है[3]। श्रावकप्रज्ञप्ति में राग-द्वेष से विनिर्मुक्त अरहन्त भगवान् द्वारा बतलायी गई जिस अन्तिम मरणावस्था का वर्णन है वह सल्लेखना कहलाती है, कहा है।[4] अमितगतिश्रावकाचार में अपने दुर्निवार अति भयंकर मरण का आगमन जानकर तत्त्वज्ञानी. धीर-वीर श्रावक अपने बान्धवों से पूछकर सल्लेखना करे, कहा है।[5] वसुनन्दिश्रावकाचार ने इसे चौथा शिक्षाव्रत माना है। यहाँ कहा गया है कि वस्त्र मात्र परिग्रह को रखकर कहा अव-शिष्ट समस्त परिग्रह को छोड़कर पान के सिवाय तीन प्रकार के आहार का त्याग करना सल्लेखना है।[6] सागारधर्मामृत में मोक्षाभिलाषी आयु के समाप्त होने पर समाधि के योग्य स्थान आदि हेतु दौड़-धूप किए विना भक्तप्रत्याख्यान समाधि को धारण करने को सल्लेखना बताया है।[7]

अतिचार

संल्लेखना के भी पाँच अतिचार कहे हैं। उपासकदशांगसूत्र, श्रावक-प्रज्ञप्ति एवं योगशास्त्र में इहलोकाशंसाप्रयोग, परलोकाशंसाप्रयोग, जीविता-

---

१. "अपच्छिमेत्यादि पश्चिमैवापश्चिमा मरणं-प्राणत्यागलक्षणं तदेवान्तोमरणान्तः तत्रवा मारणान्तिकी, संलिख्यते, कृशीक्रियते शरीरकपायाद्यनयेति संलेखणा तपोविशेषलक्षणा ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः तस्याः जोषणासेवना तस्या आराधनाअखण्डकालकरणमित्यर्थः, अपच्छिममारणान्तिकसंलेखना जोषणा आराधनातस्याः" —उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृ० ५०-५१

२. 'मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता"—तत्त्वार्थसूत्र, ७/२२

३. "उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतीकारे
धर्मायतनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः"
—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, १२२

४. श्रावकप्रज्ञप्ति, ३७८

५. अमितगतिश्रावकाचार, ६/९८

६. वसुनन्दिश्रावकाचार, २७१-२७२

७. सागारधर्मामृत, ८/११

शंसाप्रयोग, मरणाशंसाप्रयोग, कामभोगाशंसाप्रयोग ये अतिचार के पाँच भेद वताये हैं।[1] रत्नकरण्डकश्रावकाचार में जीने की आकांक्षा, मरने की आकांक्षा, परिषह से डरना, मित्रों का स्मरण और निदान पाँच अतिचार वर्णित हैं।[2] पुरुषार्थसिद्धयुपाय, उपासकाध्ययन तथा अमितगतिश्रावकाचार में जीने की आकांक्षा, मरने की आकांक्षा, मित्रों का स्मरण, पूर्वभोगों का स्मरण एवं निदान ये पाँच अतिचार उल्लेखित हैं।[3]

इस प्रकार गुणव्रत और शिक्षाव्रत जिन्हें शीलव्रत भी कहा जाता है, के विश्लेषणात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि यदि श्रावक तदनुरूप आचरण करे तो उसको आत्मविकास की चरम अवस्था प्राप्त हो सकती है। इसी स्थिति को प्राप्त करने के लिए ग्यारह प्रतिमाएं, षट्कर्म, षडावश्यक आदि भी अपना विशिष्ट योगदान प्रदान करते हैं। ये श्रावक के आध्यात्मिक विकास के अन्तिम चरण माने गये हैं।

प्रतिमाओं की परम्परा

मानव हमेशा विकास की ओर अग्रसर होने के लिए उत्सुक रहता है चाहे वह भौतिकवाद का क्षेत्र हो चाहे आध्यात्मिक विकास का। गृहस्थ अपने आत्मिक विकास के लिए सर्वप्रथम अणुव्रतों को तत्पश्चात् गुणव्रतों व शिक्षाव्रतों को ग्रहण करता है। इसके वाद वह अपने जीवन को और अधिक उन्नत और पवित्र वनाने के लिए एवं आध्यात्मिक विकास में आगे वढ़ने के लिए ग्यारह प्रतिमाओं को ग्रहण करता है। अपने दैनिक जीवन में भी सन्तोष और ईमानदारी को कार्यरूप में परिणत करने के लिए वह

---

१. क. "पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा-इहलोगासंसप्पओगे, परलोगासंसप्पओगे, जीवियासंसप्पओगे, मरणासंसप्पओगे, कामभोगासंसप्पओगे" —उवासगदसाओ, १/५७

ख. श्रावकप्रज्ञप्ति, ३८५

ग. योगशास्त्र, ३/१५१

२. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, १२२

३. क. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, १७६

ख. उपासकाध्ययन, ८७१

ग. अमिगतिश्रावकाचार, ६/१८

षट्कर्मों को भी अपनाता है। अपनी भूलों के निराकरण एवं संशोधनार्थ प्रतिदिन षट्कर्म और षडावश्यक रूप क्रियाओं को भी करता है, जिससे वह आत्मविकास की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँचता है। ऐसी ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन इस प्रकार है :—

ग्यारह प्रतिमाएँ

सामान्यतः प्रतिमा का अर्थ प्रतिज्ञा विशेष होता है।[1] इसको ग्रहण करने से श्रावक भी श्रमणतुल्यव्रतों का पालक हो जाता है, ज्यों-ज्यों वह इस श्रेणी में आगे बढ़ता है उसका आध्यात्मिक विकास भी बढ़ता जाता है। जैन आगम साहित्य—समवायांगसूत्र[2], दशाश्रुतस्कन्ध[3] व दिगम्बर *ग्रन्थ कषायपाहुड[4] की जयधवलाटीका में भी ग्यारह प्रतिमाओं के* नामोल्लेख के साथ-साथ विस्तार से उनके स्वरूप पर भी प्रकाश डाला गया है। इसी तरह श्रावकाचार के प्रतिनिधि ग्रन्थ उपासकदशांगसूत्र में एक से ग्यारह तक प्रतिमाओं को ग्रहण करने का संकेत हैं।[5] किन्तु इन प्रतिमाओं की शेषपूर्ति उपासकदशांग सूत्र के टीकाकार अभयदेवसूरि ने प्रत्येक प्रतिमा का स्वरूप वर्णित कर की है।[6]

दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द ने ग्यारह प्रतिमाओं को एक गाथा में प्रस्तुत किया है।[7] रत्नकरण्डकश्रावकाचार में श्रावक के ग्यारह पद कहकर प्रत्येक का स्वरूप प्रतिपादित किया है।[8] स्वामीकार्तिकेय ने

---

१. प्रतिमा प्रतिपत्तिः प्रतिज्ञेतियावत्"—स्थानांगसूत्रवृत्ति, पत्र ६१
२. समवायांगसूत्र, ११/५
३. दशाश्रुतस्कन्ध—मुनि कन्हैयालाल, सूत्र १७ से २७
४. कषायपाहुड—जयधवला, ९/१३०
५. "आनन्दे, समणोवासए उवासग पडिमाओ उवसंपज्जित्ताणं विहरइ"
—उवासगदसाओ, १/६७
६. उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृ० ६५/६८
७. "दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य।
बंभारंभ परिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य"॥
—चारित्रपाहुड, २२
८. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, १/१३७ से १४७

कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा में श्रावकधर्म के बारह भेद किये हैं।[1] यथा—

(१) सम्यक्दर्शन
(२) दार्शनिकश्रावक
(३) व्रतिकश्रावक
(४) सामायिकव्रती
(५) पोषधव्रती
(६) सचित्तत्याग
(७) रात्रिभोजन त्याग
(८) ब्रह्मचर्यव्रती
(९) आरम्भत्याग
(१०) परिग्रहत्याग
(११) अनुमतित्याग
(१२) उद्दिष्टत्याग

उपासकाध्ययन में केवल दो श्लोकों में ग्यारह प्रतिमाओं को गिना दिया है। जहाँ सचित्त त्यागको पांचवी एवं आरम्भत्यागको आठवीं प्रतिमा माना है, उसे सोमदेव ने क्रम बदलकर आरम्भत्याग को पांचवी तथा सचित्तत्याग को आठवीं प्रतिमा कर दिया है।[2]

इसके अतिरिक्त अमितगतिश्रावकाचार,[3] वसुनन्दिश्रावकाचार,[4] सागारधर्मामृत[5] में भी ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन प्राप्त होता है। इनके साथ-साथ प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, धर्मोपदेशपीयूषश्रावकाचार तथा लाटीसंहिता में भी इसका विवेचन प्राप्त होता है।

उपासकदशांगसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र और उसके टीकाकार पूज्यपाद ने प्रतिमाओं का उल्लेख नहीं किया है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में भी ग्यारह प्रतिमाओं का उल्लेख नहीं है। इसके साथ-साथ आचार्य रविषेण ने पद्म-

---

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २४,२७ से २९,७० से ९०
२. उपासकाध्ययन, ८२१ से ८२२
३. अमितगतिश्रावकाचार, ७/६७ से ७८
४. वसुनन्दिश्रावकाचार, २०५ से २१३
५. सागारधर्मामृत, ३/७ से ७/३७

चरित्र में, जिनसेन ने हरिवंशपुराण में, देवसेन ने भावसंग्रह में भी ग्यारह प्रतिमाओं का नामोल्लेख नहीं किया है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में जहाँ प्रतिमाओं का वर्णन किया गया है, उनके नाम व क्रम में कुछ अन्तर प्राप्त होता है। श्वेताम्बर प्राचीन साहित्य में (१) दर्शन (२) व्रत (३) सामायिक (४) पौषध (५) नियम (६) ब्रह्मचर्य (७) सचित्तत्याग (८) आरंभत्याग (९) प्रेष्यपरित्याग (१०) उद्दिष्टभक्तत्याग और (११) श्रमणभूत नामों का उल्लेख मिलता है।[1]

दिगम्बर परम्परा में रत्नकरण्डकश्रावकाचार आदि ग्रन्थों में प्रतिमाओं के नाम और क्रम इस प्रकार हैं :—

(१) दर्शन (२) व्रत (३) सामायिक (४) पौषध (५) सचित्तत्याग (६) रात्रिभुक्तिविरति (७) ब्रह्मचर्य (८) आरंभपरित्याग (९) परिग्रहत्याग (१०) अनुमतित्याग (११) उद्दिष्टत्याग।

उपर्युक्त श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में वर्णित नामों और क्रमों में अन्तर होने पर भी इनके स्वरूप में विशेष मतभेद दृष्टिगोचर नहीं होता है क्योंकि दिगम्बर साहित्य में जिसे अनुमतित्याग प्रतिमा कहा है श्वेताम्बर साहित्य में उसको उद्दिष्ट त्याग में ही समावेश कर लिया है एवं श्वेताम्बर साहित्य में जो श्रमणभूतप्रतिमा है, उसे दिगम्बर साहित्य में उद्दिष्टत्याग नाम दिया है। इनमें श्रावक का आचार क्रमशः श्रमण के सदृश हो जाता है। प्रत्येक प्रतिमा का सही स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है।

१. दर्शन प्रतिमा—

दर्शन का सामान्य अर्थ दृष्टि है, अर्थात् व्यक्ति में आध्यात्मिक विकास के लिये सम्यक्दृष्टि का होना आवश्यक है। सम्यक्दृष्टि से तात्पर्य सुगुरु,

---

१. "एक्कारस उवासगपडिमाओ पण्णत्ताओ—तंजहा-दंसणसावए कयव्वयकम्मे, सामाइयकडे, पोसहोववासनिरए, दिया वंभयारी रतिपरिमाणकडे, दिसा वि राओ वि वंभयारो, असिणाई, वियडभोजी मोलिकडे, सचित्तपरिण्णाए, आरंभपरिण्णाए, पेसपरिण्णाए, उद्दिट्ठ भत्तपरिण्णाए, समणभूए"

—समवायांगसूत्र—मुनिमवुकर ११/७१

सुदेव और सुधर्म के प्रति दृढ़ निष्ठा से हैं। उपासकदशांगसूत्र में आनन्द-श्रावक ने प्रथम उपासकप्रतिमा को यथासूत्र, यथाकल्प, यथामार्ग एवं यथातथ्य शरीर के द्वारा स्वीकार किया, पालन किया, शोधन किया व आराधन किया।[१] यथा—

"पढमं उवासगपडिमं अहासुत्तं, अहाकप्पं
अहामग्गं, अहातच्चं सम्मं काएणं फासेइ
पालेइ सोहेइ तीरेइ किट्टेइ आराहेइ"

उपासकदशांगसूत्रटीका में चारित्र आदि शेषगुण नहीं होने पर भी सम्यक्‌दर्शन का शंका, कांक्षा आदि पांच दोषों से रहित होकर सम्यक् रूप से पालन करना दर्शन प्रतिमा कहा है।[२] दशाश्रुतस्कन्ध में दर्शन प्रतिमा का स्वरूप इस प्रकार कहा है—"क्रियावादी मनुष्य सर्वधर्मरुचि-वाला होता है, परन्तु शीलव्रत व गुणव्रतों को सम्यक् रूप से धारण नहीं करता है।"[३] रत्नकरण्डकश्रावकाचार में अतिचार रहित शुद्धसम्यक् दर्शन से युक्त, संसार, शरीर और इन्द्रियों के भोगों से रहित, पंच-परमेष्ठी की शरण को प्राप्त, तात्त्विक सन्मार्ग को ग्रहण करने वाले को दार्शनिक श्रावक कहा हैं।[४] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में इसे दूसरा स्थान देकर कहा है कि जो अनेक त्रस जीवों से भरे हुए मांस-मद्य का सेवन नहीं करता है, वह दार्शनिक श्रावक है।[५] उपासकाध्ययन में सम्यक्‌दर्शन

---

१. उवासगदसाओ, १/६७

२. "सङ्कादि सल्ल विरहिय सम्मग्दंसणजुओ उ जो जन्तू
सेसगुण विप्पमुक्को एसा खलु होइ पढमा उ"
उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ६५

३. "सव्वधम्म-रुईयावि भवति। तस्सणं वहुइं सीलवय-गुणवय-वेरमण-पच्चक्खाण-पोषहोववासाइं नो सम्मं पट्ठवित्ताइं भवंति"
—आचारदसा—मुनिकन्हैयालाल, ६/१७

४. "सम्यग्दर्शनशुद्धःसंसारशरीरभोगनिर्विण्णः
पञ्चगुरुचरणशरणो, दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः
—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ७/२

५. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, २७

के साथ आठ मूलगुणों का पालन करने को दर्शन प्रतिमा बताया है।[1] अमितगतिश्रावकाचार में पवित्र और निर्मल दृष्टि को हृदय में धारण करना दर्शन प्रतिमा कहा है।[2] वसुनन्दिश्रावकाचार में पाँच उदुम्बरों सहित सात कुव्यसनों के त्यागी को दार्शनिक श्रावक माना हैं।[3] सागार-धर्मामृत, रत्नकरण्डकश्रावकाचार में प्रतिपादित दार्शनिक श्रावक के स्वरूप को ही दर्शन प्रतिमा बताया है।[4] प्रश्नोत्तरश्रावकाचार में आठ-मूलगुण तथा सात व्यसनों के त्यागी को दार्शनिक श्रावक कहा है।[5]

इस प्रकार इस प्रतिमा में व्यक्ति आगम वचनों पर दृढ़ श्रद्धा रखता है। सुगुरु, सुदेव और सुधर्म का परिपालन करता है। सम्यक्दर्शन को शंका, कांक्षा, वितिकिच्छा, परपाषंडप्रशंसा, परसम्प्रदायस्तुति इन अति-चारों से रहित होकर धारण करता है, पाँच उदुम्वर फलों का एवं सात कुव्यसनों का त्याग करता है, वह सही रूप में सम्यक्दर्शन से युक्त दार्शनिक श्रावक है।

२. व्रत प्रतिमा—

जव व्यक्ति की दृष्टि सम्यक् या शुद्ध हो जाती है, उस समम तक वह अणुव्रतों, गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का अतिचार रहित एवं निर्दोष पालन करता है। उपासकदशांगसूत्र में पहली प्रतिमा के यथावत् ग्रहण के वाद दूसरी से ग्यारहवीं प्रतिमा के ग्रहण का उल्लेख है।[6] यथा—

> "आणंदे समणोवासए दोच्चं उवासग-पडिमं, एवं तच्चं,
> चउत्थं पंचमं, छट्ठं, सत्तमं, अट्ठमं, नवमं, दसमं, एक्कारसमं
> जाव आराहेइ"

उपासकदशांगसूत्रटीका में व्रत प्रतिमा में दर्शनप्रतिमा से युक्त अणु-

---

१. उपासकाध्ययन, ८२१
२. अमितगतिश्रावकाचार, ७/६७
३. वसुनन्दि-श्रावकाचार, २०५
४. सागारधर्मामृत, १२/४
५. क. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, १२/४
   ख. लाटीसंहिता, १/६
६. उवासगदसाओ, १/६८

व्रतों का निरतिचार पालन, अनुकम्पागुण से युक्त होना कहा है।[1] दशाश्रुतस्कन्ध में शीलव्रत, गुणव्रत, प्राणातिपातविरमण, प्रत्याख्यान और पोषध का सम्यक्परिपालन व्रत प्रतिमा है।[2] इसमें सामायिक और देशावकाशिक का सम्यक् प्रतिपालक नहीं होता है। रत्नकरण्डकश्रावकाचार में माया, मिथ्यात्व और निदान इन शल्यों से रहित पांच अणुव्रतों एवं सातों शीलों को धारण करनेवाला व्रती श्रावक कहा गया है।[3] कार्तिकेयानुप्रेक्षा, उपासकाध्ययन, चारित्रसार, अमितगतिश्रावकाचार, वसुनन्दिश्रावकाचार और लाटीसंहिता में भी बारहव्रतों को अतिचार रहित परिपालन करने को व्रत प्रतिमा माना है।[4] सागारधर्मामृत के अनुसार परिपूर्णसम्यक्त्व और मूलगुण का धारक, शल्यरहित, इष्ट-अनिष्ट पदार्थों की इच्छा से रहित, निरतिचार उत्तरगुण को धारण करने वाला व्रतिक होता है।[5]

इस प्रकार जब व्यक्ति विशुद्ध दृष्टि से युक्त होता है, तब वह चारित्र के विकास में भी आगे बढ़ने की आकांक्षा करने लगता है और इसी में वह अपनी शक्ति-अनुसार पांच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों, सामायिक एवं पोषध को छोड़कर शेष शिक्षाव्रतों का अतिचार-रहित पालन करता है।

---

१. "दंसणपडिमा जुत्तो पालेन्तोऽणुव्वए निरइयारे।
अणुकम्पाइगुण जुओ जीवो इह होइ वयपडिमा ॥
—उपासकदशांगसूत्रटीका-अभयदेव, पृष्ठ ६५

२. "तस्स णं बहूइं सीलवय-गुणवय-वेरमण—पच्चक्खाण—पोसहोववासाइं सम्मं पट्ठविताइं भवंति। से णं सामाइयं देसावगासियं नो सम्मं अणुपालित्ता भवइ"
—दशाश्रुतस्कन्ध, ६/१८

३. "निरतिक्रमणमणुव्रतपञ्चकमपि शीलसप्तकं चापि।
धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः ॥
—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ७/३

४. क. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, २९ ख. उपासकाध्ययन, ८२१
ग. चारित्रसार (श्रावकाचारसंग्रह) पृष्ठ २३८
घ. अमितगतिश्रावकाचार, ७/६८ ङ. वसुनन्दि-श्रावकाचार, २०७
च. लाटीसंहिता, ७/२४५

५. सागारधर्मामृत, ४/१

सामायिक एवं पौषध तो आरम्भिक विकास के विधेयक रूप हैं इसलिए इनका अभ्यास वह अलग प्रतिमा के रूप में करता है।

३. **सामायिक प्रतिमा—**

सामायिक का अर्थ समभाव की प्राप्ति है। इसमें समत्व की साधना की जाती है, उपासकदशांगसूत्रटीका में सम्यग्दर्शन और अणुव्रतों को स्वीकार करने के पश्चात् प्रतिदिन तीन बार सामायिक करने की स्थिति को सामायिक प्रतिमा कहा है। इसका समय तीन मास का बताया है।[१] दशाश्रुतस्कन्ध में पूर्वोक्त दोनों प्रतिमाओं के साथ-साथ सामायिक एवं देशावकाशिक शिक्षाव्रत का भी सम्यक् परिपालन होता है परन्तु अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णमासी को परिपूर्ण पौषधोपवास का सम्यक्-परिपालन नहीं करता, उसे सामायिक प्रतिमाधारी कहा है।[२] रत्नकरण्डकश्रावकाचार में चार बार तीन-तीन आवर्त और चार बार नमस्कार करने वाला यथाजातरूप से अवस्थित ऊर्ध्व कायोत्सर्ग एवं पद्मासन का धारक, मन, वचन, काय की शुद्धि से युक्त, तीनों समय सामायिक करने वाले को सामायिक प्रतिमाधारी कहा है।[३] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में जो बारह आवर्त-सहित चार प्रणाम और दो नमस्कारों को करता हुआ कायोत्सर्ग में अपने कर्मों के विपाक का चिन्तन करता है, वह सामायिक प्रतिमाधारी है।[४] उपासकाध्ययन में नियम से तीनों सन्ध्याओं को विधिपूर्वक सामायिक करना, सामायिक प्रतिमा माना गया है।[५] चारित्रसार में रत्नकर-

---

१. "वरदंसणवयजुत्तो सामाइयं कुणइ जो उ तिसंझासु
उक्कोसेण तिमासं एसा सामाइयप्पडिमा"
—उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ६५-६६

२. "से णं सामाइयं देसावगासियं सम्मं अणुपालित्ता भवइ।
से णं चउदिसि-अट्ठमि-उद्दिट्ठ-पुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहोववासं नो सम्मं अणुपालित्ता भवइ।
—दशाश्रुतस्कन्ध, ६/१९

३. "चतुरावर्त्तत्रितयश्चतुःप्रणामः स्थितो यथाजात।
सामायिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी"॥
—रत्नकरण्डश्रावकाचार, ७/४

४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ७०-७१

५. उपासकाध्ययन, ८२१

ण्डकश्रावकाचार की तरह ही प्रतिमा का स्वरूप बताया है।[1] अमितगति-श्रावकाचार में जो आर्त व रौद्रध्यान से रहित है, समस्त कषायदोषों से मुक्त है तथा जो त्रिकाल सामायिक करता है, सामायिक में स्थित कहा गया है।[2] वसुनन्दिश्रावकाचार में स्नानादि से शुद्ध होकर चैत्यालय या प्रतिमा सन्मुख या पवित्र स्थान में पूर्व या उत्तरमुख होकर जिनवाणी, जिनबिम्ब, जिन धर्म व पंच-परमेष्ठीको जो त्रिकाल वन्दना करता है, सामायिक प्रतिमाधारी कहा है।[3] सागारधर्मामृत में उपासकदशांगटीका का ही अनुसरण किया है।[4] लाटीसंहिता में पहली तथा दूसरी प्रतिमा के साथ सामायिक नामक व्रत अच्छी तरह पालन करना सामायिक प्रतिमा कहा है।[5]

इस प्रकार सामायिक प्रतिमा व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास का सकारात्मक (विधेयक) रूप है। इसके सतत प्रयास से अभ्यासित होकर व्यक्ति आत्मोन्नति के पथ पर अग्रसर होता है। इसमें व्यक्ति सम्यक्त्व तथा व्रतों का परिपालन करते हुए अपनी दैनिक क्रियाओं में कुछ आध्यात्मिक चिन्तन के लिए समय देता है, यह समय ही सामायिक कही जा सकती है।

४. पोषध प्रतिमा—

प्रत्येक माह या पक्ष में गृहस्थ कुछ दिन ऐसे रखता है जिनमें वह सांसारिक झंझटों से मुक्त हो, आध्यात्मिकता की ओर ही लगा रहता है। उपासकदशांगसूत्रटीका में कहा है कि पूर्वोक्त प्रतिमाओं के साथ जो अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वतिथियों पर प्रतिपूर्ण पोषधव्रत की आराधना करता है वह पोषधप्रतिमाधारी है, जिसका समय चार मास है।[6] दशाश्रुतस्कन्ध में उपरोक्त तीनों प्रतिमाओं के पालन के साथ चतुर्दशी, अष्टमी, पूर्णमासी एवं

---

१. चारित्रसार (श्रावकाचारसंग्रह), पृष्ठ २५५
२. अमितगतिश्रावकाचार, ७/६९
३. वसुनन्दिश्रावकाचार, २७४-२७५
४. सागारधर्मामृत, ७/१
५. लाटीसंहिता, ६/३
६. "पुव्वोदियपडिमा जुओ पालइ जो पोसहं तु सम्पुण्णं।
अट्ठमि चउद्दसाइसु चउरो मासे चउत्थी सा।
—उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ६६

अमावस्या के दिन परिपूर्ण पौषध व्रत का पालन करता है, किन्तु एक रात्रि को उपासकप्रतिमा का पालन नहीं करता है वह पौषध प्रतिमाधारी होता है।[1] रत्नकरण्डकश्रावकाचार, चारित्रसार एवं अमितगतिश्रावकाचार में प्रत्येक मास के चारों ही पर्वदिनों में अपनी शक्ति के अनुसार पौषध को नियमपूर्वक करना पौषध प्रतिमा कहा है।[2] कार्तिकेयानुप्रेक्षा और वसुनन्दिश्रावकाचार में बताया गया है कि सप्तमी एवं त्रयोदशी के दिन अपराह्न के समय जिनमंदिर में जाकर चारों आहारों का त्याग कर, उपवास करना तथा सर्वव्यापारों को छोड़कर रात्रि व्यतीत करना सवेरे वापस सब क्रियाओं को करके वह दिन शास्त्राभ्यास में व्यतीत करे। पुनः धर्मध्यान में रात बिताकर उषाकाल में सामायिक-वन्दना आदि करके यथावसर तीनों पात्रों को भोजन कराकर पीछे स्वयं भोजन करने वाले के पौषध प्रतिमा होती है।[3] सागारधर्मामृत में श्रावक को पूर्व तीन प्रतिमाओं में परिपक्वता के साथ जब तक पौषधोपवास व्रत रहता है तब तक साम्यभाव से च्युत नहीं होने का सामायिक प्रतिमाधारी कहा है।[4] लाटीसंहिता में पौषधोपवास का अतिचार रहित पालन पौषध प्रतिमा कहा है।[5]

इस प्रकार गृहस्थ अपने को आध्यात्मिक विकास में अग्रसर करने के लिए प्रत्येक अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णमासी व अमावस्या के दिन उपवास करता है एवं सन्ध्या को पौषध ग्रहण करता है। उस दिन वह सांसारिक

---

१. "से णं चउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ पुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालित्ता भवइ से णं एगराइयं उवासग पडिमं नो सम्मं अणुपालित्ता भवइ"

दशाश्रुतस्कन्ध, ६/२०

२. क. पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे-मासे स्वशक्तिमनिगुह्य।
प्रोषध नियमविधायी प्रणधिपरः प्रोषधानशनः ॥

—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, १४०

ख. चारित्रसार (श्रावकाचारसंग्रह), पृष्ठ २५५

ग. अमितगतिश्रावकाचार, ७/७०

३. क. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ७२-७५ ख. वसुनन्दिश्रावकाचार, २८१-२८९

४. सागारधर्मामृत, ७/४

५. लाटीसंहिता, ६/११-१२

कार्यों से मुक्त होकर शास्त्र-वाचन, पठन तथा मनन का ही कार्य करता है। यह कार्य एकान्त स्थान, स्थानक, चैत्यालय या जिनमंदिर में किया जाता है।

५. कायोत्सर्गप्रतिमा—

कायोत्सर्ग का अर्थ शरीर का उत्सर्ग करने से है, अर्थात् अल्पकाल के लिए काय का मोह छोड़कर धर्म ध्यान में अपनेआप को लगाना कायोत्सर्ग है। उपासकदशांगसूत्रटीका में सम्यकत्व, अणुव्रतों और गुणव्रतों का धारक अष्टमी तथा चतुर्दशी के दिन रातभर कायोत्सर्ग करता है, रात्रि-भोजन का त्याग करता है, दिन में ब्रह्मचर्य का पालन करता है, सांसारिक प्रवृत्तियों का त्याग करता है, इसी को कायोत्सर्ग प्रतिमा कहा है।[1] दशाश्रुतस्कन्ध में उपर्युक्त चारों प्रतिमाओं के साथ इस प्रतिमा में प्रतिमाधारी स्नान नहीं करता, रात्रिभोजन नहीं करता, धोती के लांग नहीं लगाता, दिन में ब्रह्मचर्य और रात्रि में मैथुन-सेवन का परिमाण करता है, एवं इसे एक दिन से पाँच मास तक पालन करता है, उसे कायोत्सर्ग प्रतिमाधारी कहा है।[2]

दिगम्बर परम्परा में रात्रिभुक्तित्याग या दिवामैथुनत्याग को स्वतन्त्र प्रतिमा गिना है, परन्तु श्वेताम्बर साहित्य में इसे कायोत्सर्ग या नियम प्रतिमा में समाविष्ट कर लिया है। रत्नकरण्डकश्रावकाचार एवं कार्तिकेयानुप्रेक्षा में अन्न, पान, खाद्य, लेह्य इन चारों ही प्रकार के आहार को नहीं खाता है, वह रात्रिभोजनत्याग प्रतिमाधारी होता है, इस प्रकार कहा है।[3] उपासकाध्ययन और चारित्रसार में दिन में ब्रह्मचर्य का पालन

---

१. "असिण वियडभोइं मउलिकडो दिवस बंभयारी य।
राइं परिमाणकडो पडिमा वज्जेसु दियहेसु॥
—उपासकदशांगसूत्रटीका–अभयदेव, पृष्ठ ५५

२. से णं असिणाणए, वियडभोई, मउलिकडे, दिया बंभयारी, रतिं परिमाण कडे। से णं एयारूवेण विहारेण विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा दुयाहं व तियाहं. व जाव उक्कोसेणं पंच मासं विहरइ" —दशाश्रुतस्कन्ध, ६/२१

३. क. "अन्नं, पानं, खाद्य, लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः" ॥
—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, १४२

करने को रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमा कहा है।[१] वसुनन्दिश्रावकाचार एवं सागारधर्मामृत के अनुसार मन, वचन, काय से कृत, कारित एवं अनुमोदित आदि नौ प्रकार से दिन में मैथुन का त्याग करता है, उसके दिवामैथुनत्याग प्रतिमा होती है।[२] धर्मसंग्रहश्रावकाचार में कहा है कि दिन में ब्रह्मचर्य और रात्रि में भोजन के त्याग वाला रात्रिभक्तव्रती है।[३] लाटीसंहिता में बताया है कि रात्रिभक्तत्याग प्रतिमाधारी व्यक्ति रात्रि में पानी पीने का भी त्याग कर देता है एवं दिन में स्त्री-सेवन का भी परित्याग कर देता है।[४]

इस प्रकार कायोत्सर्ग प्रतिमा को नियम, रात्रिभुक्तित्याग या दिवा-मैथुनत्याग प्रतिमा भी कहते हैं। इसमें श्रावक दिन में पूर्णतया ब्रह्मचर्य का पालन करता है तथा रात्रि में स्त्री-सेवन की मर्यादा निश्चित कर लेता है। रात्रि में खाने-पीने पर पूर्णरूप से नियन्त्रण रखता है, स्नान नहीं करता है एवं धोती के लांग भी नहीं लगाता है। जीवन को उत्कृष्टता की ओर अग्रसर होने का यह पांच मास का पांचवां चरण है।

६. ब्रह्मचर्य प्रतिमा—

इसमें व्रती रात्रि में भी मैथुन सेवन का परित्याग एवं सभी प्रकार की स्त्रियों से परिचय, वार्तालाप आदि का त्याग कर देता है। उपासकदशांग-टीका के अनुसार पूर्वोक्त प्रतिमाओं से युक्त मोह को जीत कर रात्रि एवं दिन में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन, स्त्रियों से संलापादि नहीं कर, शृङ्गारयुक्त वस्त्र भी धारण नहीं करता है, वह ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है। इसका समय कम से कम एक-दो दिन व उत्कृष्ट छः मास है।[५] दशा-

---

ख. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ८१

१. क. उपासकाध्ययन, ८२१ ख. चारित्रसार (श्रावकाचारसंग्रह), पृष्ठ २५५

२. क. वसुनन्दि-श्रावकाचार, २९६ ख. सागारधर्मामृत, ७/१२

३. धर्मसंग्रहश्रावकाचार, ५/२२

४. लाटीसंहिता, ६/१९-२०-२१

५. "पुव्वोदिय गुणजुत्तोविसेसओ विजिय मोहणिज्जो य।
वज्जइ अबंभमेगंतओ य राइं पि थिर चित्तो॥
सिङ्गार कहा विरओ, इत्थीए समं रहम्मि नो ठाइ।
चयइ च अइप्पसङ्गं तहा विभूसं च उक्कोसं"॥
—उपासकदशांगसूत्रटीका, अभयदेव, पृष्ठ ६६-६७

श्रुतस्कन्ध में कहा है कि दिन एवं रात्रि में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है, परन्तु सचित्त का परित्यागी नहीं होता। यह कम से कम एक-दो दिन और उत्कृष्ट पाँच मास तक पालन योग्य नियम है।[१] दिगम्बर परम्परा में ब्रह्मचर्य प्रतिमा को सातवीं प्रतिमा माना है। इसके स्वरूप को बताते हुए रत्नकरण्डकश्रावकाचार में मल का बीज, मल का आधार, मल को बहाने वाला, दुर्गन्ध से युक्त तथा वीभत्स आकार वाले स्त्री के अंगों को देखकर स्त्री सेवन के सर्वथा त्याग को ब्रह्मचर्य प्रतिमा कहा है।[२] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में मन, वचन, काय से सभी प्रकार की स्त्रियों की अभिलाषा नहीं करना, ब्रह्मचर्य प्रतिमा माना है।[३] चारित्रसार में चामुण्डाचार्य ने रत्नकरण्डकश्रावकाचार का ही अनुसरण किया है।[४] उपासकाध्ययन, वसुनन्दिश्रावकाचार, सागारधर्मामृत और लाटीसंहिता में मन, वचन, काय द्वारा कृत, कारित और अनुमोदन से स्त्री-सेवन के त्याग को ब्रह्मचर्य प्रतिमा कहा है।[५] अमितगतिश्रावकाचार में बताया गया है कि विषयसेवन से विरक्तचित्त पुरुष, स्त्री को गुणरूपी रत्नों को चुराने वाला मानकर मन, वचन व काय से उसका सेवन नहीं करता है वह ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारीश्रावक होता है।[६] इस प्रकार स्त्री-सेवन का पूर्णरूप से त्यागी ही ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी श्रावक होता है।

---

१. 'से णं असिणाणए, वियडभोई मउलिकडे दिया वा राओ वा वंभयारी सचित्ताहारे से अपरिण्णाए भवइ। सेणं एयारुवेणं विहारेणं विहरमाणे-जहण्णेणं एगाहं वा दुआहं वा तिआहं वा जाव उक्कोसेणं छम्मास विहरेज्जा''
—दशाश्रुतस्कन्ध, ६/२२

२. ''मलवीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धि वीभत्सम्।
पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः॥
—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, १४३

३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ८३

४. चारित्रसार (श्रावकाचारसंग्रह), पृष्ठ २५६

५. क. उपासकाध्ययन, ८२१
ख. वसुनन्दिश्रावकाचार, २९७
ग. सागारधर्मामृत, ७/१६
घ. लाटीसंहिता, ६/२५

६. अमितगतिश्रावकाचार, ७३

अतः इसमें पूर्णरूप से स्त्री-सेवन का परित्याग करना होता है, साथ ही कामोत्तेजना पैदा करने वाले शृङ्गारिक वेश-भूषा, स्त्री के अंगोपांगों को निहारना आदि भी त्याज्य माने हैं। वैसे दिगम्बर साहित्य में इस प्रतिमा का क्रम सातवाँ है परन्तु हमारा आधार उपासकदशांगसूत्र है, इस कारण ब्रह्मचर्य प्रतिमा के स्वरूप का प्रतिपादन उसी के आधार पर किया गया है।

७. सचित्त-आहारवर्जन प्रतिमा—

इसमें गृहस्थ सब प्रकार के बीजयुक्त और सचित्त-आहार का त्याग कर देता है, किन्तु इसमें गृहस्थ के कार्यों को करता हुआ आरम्भ का त्याग नहीं कर पाता है। उपासकदशांगसूत्रटीका में कहा गया है कि पूर्वोक्त सभी प्रतिमाओं का परिपालन करता हुआ समस्त सचित्त-आहार का त्याग कर देता है वह सचित्ताहार प्रतिमाधारी है। इसका समय उत्कृष्ट सात मास का है।[1] दशाश्रुतस्कन्ध में दिन-रात ब्रह्मचर्य के पालन के साथ वह पूर्णरूप से सचित्तआहार का परित्याग करता है, वह गृह-आरंभ का अपरित्यागी सचित्त-आहार प्रतिमाधारी है।[2] इसमें गृहस्थ उस प्रतिमा को एक, दो दिन तथा उत्कृष्ट सात मास तक पालन करता है। दिगम्बर परम्परा में इसको पाँचवें क्रम पर रखा है, परन्तु जहाँ स्वरूप के विभिन्न पहलुओं को दृष्टिगत करना हो तो उसका विवेचन यहाँ करना अधिक उचित है, दिगम्बर परम्परा में इसको सचित्तविरत नाम दिया गया है। रत्नकरण्डक-श्रावकाचार, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, चारित्रसार, वसुनन्दिश्रावकाचार और गुणभूषणश्रावकाचार में कच्चे मूल, फल, शाक, शाखा, कैर, फूल और बीजों को जो नहीं खाता है वह सचित्तविरतप्रतिमा का धारी बताया गया

---

१. "सच्चित्तं आहारं वज्जइ असणाइयं निरवसेसं।
सेसवय समाउत्तो जा मासा सत्त विहिपुव्वं॥"

—उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ६७

२. "राओवरायं वा बंभयारी सचित्ताहारे से परिण्णाय भवति। आरंभे से अपरिण्णाए भवति। से णं एयारुवेणं विहारेणं विहरमाणेजहण्णेणं एगाहं वा दुआहं वा तिआहं वा जाव उक्कोसेणं सत्तमासे विहरेज्जा"

—दशाश्रुतस्कन्ध, ६/२३

है।[1] वसुनन्दिश्रावकाचार और गुणभूषणश्रावकाचार में अप्रासुक जल का त्याग भी सम्मिलित है। उपासकाध्ययन में आठवीं प्रतिमा का नाम सचित्त-त्याग किया है। यहाँ सचित्त वस्तु के खाने के त्याग को सचित्त त्याग प्रतिमा माना है।[2] अमितगतिश्रावकाचार में जिनवचनों का वेत्ता दयालु-चित्त पुरुष किसी सचित्त वस्तु को नहीं खाता है वह साधारण धर्म का पोषक एवं कषायों का विमोचक सचित्तत्यागप्रतिमाधारी कहा गया है।[3] सागारधर्मामृत में चार प्रतिमाओं का निर्दोष पालक, हरे अंकुर, हरे बीज, सचित्त जल और नमक नहीं खाने वाला सचित्त त्यागी श्रावक माना गया है।[4] लाटीसंहिता में कहा है कि कभी भी सचित्त वस्तु को नहीं खाना चाहिए। यहाँ बताया है कि यह त्याग खाने का है, स्पर्श करने का त्याग नहीं होता, जिससे वह अप्रासुक को प्रासुक करके खा सकता है।[5]

इस प्रकार सचित्तत्याग प्रतिमा में व्यक्ति हरे कन्द, मूल, फलादि का सर्वथा त्याग कर देता है। यह त्याग जीवनभर के लिए हो सकता है। इसमें व्यक्ति को नमक और जल तक का भी त्यागी होना आवश्यक है। हाँ! छूट के रूप में यह है कि वह सचित्त चीजों को विभिन्न संयोगों से अचित्त बनाकर खा सकता है।

८. स्वयंआरम्भवर्जनप्रतिमा—

इस प्रतिमा में गृहस्थ द्वारा समस्त हिंसात्मक क्रियाओं का तथा मान-

---

१. क. "मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दप्रसूनबीजानि।
नामानियोऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः॥"
—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, १४१

ख. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ७८-७९

ग. चारित्रसार, (श्रावकाचार संग्रह), पृष्ठ २५५

घ. वसुनन्दि-श्रावकाचार, २९५

ङ. गुणभूषणश्रावकाचार, ३/७०

२. उपासकाध्ययन, ८२२

३. अमितगतिश्रावकाचार, ७/७१

४. सागारधर्मामृत, ७/८

५. लाटीसंहिता, ६/१६-१७

सिक, वाचिक एवं कायिक तीनों ही आरम्भ का स्वयं त्याग करता है, उपासकदशांगसूत्रटीका में कहा है कि जो सचित्त आहार का त्याग करता है, स्वयं आरम्भ व हिंसा नहीं करता है किन्तु आजीविका के लिए दूसरों से कराने का त्याग नहीं करता है वहाँ स्वयंआरम्भवर्जनप्रतिमा कहलाती है। इसकी काल मर्यादा एक-दो या तीन दिन और उत्कृष्ट आठ मास है।[1] दशाश्रुतस्कन्ध में भी यही स्वरूप प्रतिपादित किया है।[2] रत्नकरण्डकश्रावकाचार में हिंसा के कारणभूत सेवा, कृषि तथा वाणिज्य आदि आरंभ से निवृत्त होने को आरंभत्यागप्रतिमा कहा है।[3] कार्तिकेयानुप्रेक्षा, चारित्रसार, अमितगतिश्रावकाचार, सागारधर्मामृत, प्रश्नोत्तरश्रावकाचार में रत्नकरण्डकश्रावकाचार का ही अनुसरण किया है, साथ ही इनके त्याग को मन, वचन, काय से नहीं करना भी जोड़ दिया है।[4] उपासकाध्ययन में खेती आदि नहीं करना आरंभत्याग बताया है।[5] वसुनन्दिश्रावकाचार में कहा है कि पूर्व में जो थोड़ा बहुत गृह संबंधी आरंभ होता है, उसे सदा के लिए त्याग करता है, वही आठवाँ श्रावक है।[6] लाटीसंहिता में जो जल आदि सचित्त द्रव्यों को अपने हाथ से स्पर्श भी नहीं करता है, ऐसे श्रावक को आरंभत्यागी कहा है।[7]

---

१. "वज्जइ सयमारम्भ सावज्जं कारवेइ पेसेहिं।
वित्तिनिमित्तं पुव्वय गुणजुत्तो अट्ठ जा मासा॥
— उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ६७

२. "आरंभे से परिण्णाए भवइ। पेसारम्भे अपरिण्णाए भवइ।
से णं एयारुवेणं विहारेणं विहरमाणे। जाव जहण्णेणं एगाहं वा दुआहं वा तिआहं वा जाव उक्कोसेणं अट्ठमासे विहरेज्जा"
दशाश्रुतस्कन्ध, ६/२४

३. "सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारम्भतो व्युपारमति।
प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारम्भनिवृत्तः॥"—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, १४४

४. क. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ८५ ख. चारित्रसार (श्रावकाचार संग्रह) पृष्ठ २५६
ग अमितगतिश्रावकाचार, ६/७४ घ. सागारधर्मामृत, ७/२१
ङ. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, २३/९९

५. उपासकाध्ययन, ८२१

६. वसुनन्दिश्रावकाचार, २९८

७. लाटीसंहिता, ६/३२-३३

इस प्रकार आरम्भ-त्याग के इस नियम में व्यक्ति सभी प्रकार से सांसारिक आरम्भों का त्याग करता है, समस्त पारिवारिक उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता है। वह पुत्रादि को परामर्श हेतु आगार रखता है एवं स्वामित्व का व्यावहारिक तौर पर निर्वाह करता है। यह त्याग गृहस्थ द्वारा एक करण तीन योग से किया जाता है। किसी प्राणी की हिंसा का विचार मानसिक आरम्भ है। हिंसा के लिए प्राणी को रूक्षता से कहना वाचिक आरम्भ है। शस्त्रादि से शारीरिक क्रियाओं द्वारा हनन करना कायिक आरम्भ है।[1]

९. भृतकप्रेष्यारम्भवर्जन प्रतिमा—

इसमें व्यक्ति भृतक यानी नौकरों से भी आरम्भ नहीं करवाता हैं, स्वयं तो वैसे भी नहीं करता है, परन्तु इसमें अनुमति देने का त्याग नहीं होता। उपासकदशांगसूत्रटीका में कहा है कि धारक पूर्वोक्त आठों प्रतिमाओं का पालन करता है। आरम्भ का भी परित्याग करता है; किन्तु अपने निमित्त बनाये भोजन को ग्रहण कर लेता है। इसका काल जघन्य एक, दो, तीन दिन और उत्कृष्ट नौ मास है।[2] दशाश्रुतस्कन्ध में कहा है कि इसमें गृहस्थ दूसरों से भी आरम्भ नहीं करवाता परन्तु स्वनिर्मित आहार को ग्रहण करता है। यह प्रतिमा कम से कम एक, दो, तीन दिन और उत्कृष्ट नौ मास की होती है।[3] रत्नकरण्डकश्रावकाचार में धन-धान्यादि दसों प्रकार के परिग्रह को छोड़कर एवं मायाचार को भी छोड़-कर जो परम सन्तोष धारण करता है, वह परिग्रहविरत श्रावक कहलाता

---

१. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि—जैन आचार-सिद्धान्त और स्वरूप, पृष्ठ ३५३

२. "पेसेहिं आरम्भं सावज्जं कारवेइ नो गुरुयं।
पुव्वोइयगुणजुत्तो नव मासा जाव विहिणाउ॥"
—उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ६७

३. "पेसारंभे से परिण्णाए भवइ। उद्दिट्ठ भत्ते से अपरिण्णाए भवइ। से णं एया-रुवेणं विहारेणं विहरमाणे। जहण्णेणं एगाहं वा दुआहं वा तिआहं वा जाव-उक्कोसेणं नव मासे विहरेज्जा"
—दशाश्रुतस्कन्ध, ६/२५

है।[1] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में वाहरी और भीतरी परिग्रह को पाप मानकर छोड़ देने को परिग्रहविरत कहा है।[2] उपासकाध्ययन में समस्त परिग्रह के त्याग को परिग्रहविरत प्रतिमा वताया है।[3] चारित्रसार में क्रोधादि कषायों को उत्पन्न करने वाला हिंसादि पंचपापों की जन्मभूमि परिग्रह को धर्म-शुक्लध्यान से दूर करने वाला मानकर दसों परिग्रह से विरत होने को परिग्रह त्यागी श्रावक परिभाषित किया गया है।[4] अमितगतिश्रावकाचार में कहा है कि ये परिग्रह रक्षण, उपार्जन, विनाश आदि के द्वारा जीवों को अतिभयंकर दुःख देता है, ऐसा समझ कर परिग्रह के त्यागी को अपरिग्रही कहा जाता है।[5] वसुनन्दिश्रावकाचार में कहा है कि जो वस्त्र मात्र परिग्रह को रखकर शेष परिग्रह को छोड़ देता है और उस वस्त्र में भी ममत्व नहीं रखता है, वह परिग्रही विरत श्रावक है।[6] प्रश्नोत्तरश्रावकाचार में क्षेत्र, वास्तु, धन्य-धान्य, दास, पशु, आसन, शयन, कुप्य, भांड इन दस परिग्रहों में केवल त्यागी अपरिग्रही श्रावक माना है।[7] लाटीसंहिता में सोना-चांदी आदि सभी को छोड़कर अपने शरीर के लिए वस्त्र एवं अन्य आवश्यक सामान के अतिरिक्त सभी का त्याग करने वाला परिग्रहविरता श्रावक कहा है।[8]

इस तरह प्रेष्य त्याग या परिग्रह त्याग में व्यक्ति दो करण तीन योगों से समस्त सांसारिक आरम्भ-परिग्रहों का त्याग कर देता है। वस्त्र केवल शरीर आच्छादन के लिए या लज्जा निवारण के लिये है, की

---

१. "वाह्येपु दशसु वस्तुपु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः।
स्वस्थः सन्तोपपरः परिचितपरिग्रहाद्विरतः" ॥
रत्नकरण्डकश्रावकाचार, १४५

२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ८६

३. उपासकाध्ययन, ८२२

४. चारित्रसार, (श्रावकाचारसंग्रह) पृष्ठ २५६

५. अमितगतिश्रावकाचार, ७/७५

६. क. वसुनन्दिश्रावकाचार, २९९
ख. सागारधर्मामृत, ७/२३

७. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, २३/१२२-१२३

८. लाटीसंहिता ६/३९-४१

मर्यादा रखता है, एवं खाने के बर्तन मात्र, जो भी लकड़ी या मिट्टी के हैं, उन्हें रखता है। इनके अतिरिक्त समस्त आरम्भों से त्यागी गृहस्थ परिग्रह विरत उच्चरित होता है।

१०. उद्दिष्टभक्तवर्जन प्रतिमा—

दिगम्बर परम्परा में इसे अनुमतित्याग नाम दिया है, जिसका समावेश श्वेताम्बर में उद्दिष्ट भक्तवर्जन में कर लिया है। इस प्रतिमा में गृहस्थ अपने निमित्त बने भोजन का भी त्याग कर देता है। सांसारिक बातचीत का हाँ या नहीं में उत्तर देता है। सिर उस्तरे से मुड़ाता है, केवल शिखा मात्र रखता है। इसकी काल मर्यादा कम से कम एक, दो व तीन दिन और उत्कृष्ट दस मास की होती है, ऐसा उपासकदशांग-सूत्रटीका में कहा है।[1] दशाश्रुतस्कन्ध में कहा गया है कि जो निरन्तर ध्यान और स्वाध्याय में तल्लीन रहता है, सिर के बालों का शस्त्र से मुण्डन कराता है, चोटी, जो गृहस्थाश्रम का चिह्न है, रखता है वह उद्दिष्टभक्तत्याग प्रतिमाधारी कहा जाता है।[2] रत्नकरण्डकश्रावकाचार और सागारधर्मामृत में बताया गया है कि जो आरम्भ, कृषि तथा लौकिक कार्यों में रुचि नहीं रखता है, उनका अनुमोदन भी नहीं करता है, वह अनुमतित्यागी श्रावक है।[3] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में जो पापमूलक गृहस्थ के कार्यों की अनुमोदना नहीं करता है और गृहकार्यों में उदासीन रहता है, उसे

---

१. "उद्दिट्ठकडं भत्तंपि वज्जए किमुय सेसमारंभं।
सो होई उ खुरमुण्डो, सिहलिं वा धारए कोइ॥
दव्वं पुट्ठो जाणं जाणे इइ वयइ नो य नो वेत्ति।
पुव्वोदिय गुणजुत्तो दस मासा कालमाणेणं॥"

—उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ६७

२. ....सेणं खुरमुंडए वा सिहा धारए वा तस्स णं आभट्ठस्सं सभायट्ठस्स वा कप्पंति दुवे भासाओ भासित्तए

—दशाश्रुतस्कन्ध, ६/२६/१०

३. क. "अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः॥"

रत्नकरण्डकश्रावकाचार, १४६

अनुमति विरत प्रतिमाका धारी श्रावक कहा है।[१] चारित्रसार और लाटीसंहिता में कहा है कि जो आहारादि के लिए भी अपनी अनुमति नहीं देता है, जैसा आहार मिल जाता है, ग्रहण कर लेता है, वह अनुमति त्यागप्रतिमाधारी श्रावक है।[२] अमितगतिश्रावकाचार में धर्म में आसक्त, सर्वपरिग्रह से रहित पापकार्यों में अनुमति नहीं देने वाले को अनुमतित्यागी कहा गया है।[३] वसुनन्दिश्रावकाचार में कहा है कि स्वजनों एवं परजनों द्वारा पूछे गये गृहसम्बन्धी कार्य में भी अनुमोदना नहीं करता है, उसके अनुमतिविरतप्रतिमा होती है।[४]

इस प्रकार उद्दिष्टभक्त या अनुमतित्याग प्रतिमा में गृहस्थ सर्वप्रकार के आरम्भों का कृत, कारित तथा अनुमोदन का भी त्याग कर देता है, भोजन भी, अपने निमित्त से बनाया गया ग्रहण नहीं करता है, किसी भी प्रकार के प्रश्नों का 'हां' या 'ना' में उत्तर देता है। भोजन भी अपने पुत्र या अन्य स्वधर्मी के घर पर कर लेता है। गृहस्थी में रहते हुए भी वह गृहस्थधर्म से एक प्रकार से अलग हो जाता है।

११. श्रमणभूतप्रतिमा—

इसमें गृहस्थ श्रमण के सदृश बन जाता है, वह श्रमण की तरह ही भिक्षा-चर्या आदि का परिपालन करता है। दिगम्बर परम्परा में उद्दिष्ट त्याग को ग्यारहवीं प्रतिमा माना है। उपासकदशांगसूत्रटीका में कहा है कि श्रमणभूतप्रतिमा में सिर के बालों का यथाशक्ति लुञ्चन किया जाता है। साधु जैसा वेश धारण करता है, भंडोपकरण भी साधु जैसे ही रखता है और किंचित् राग होने से गोचरी (आहार) अपने ही घरों से लेता है। समय (सीमा) जघन्य एक दो या तीन दिन और उत्कृष्ट ग्यारह

ख. सागारधर्मामृत, ७/३०

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ८८

२. क. चारित्रसार (श्रावकाचार संग्रह), पृष्ठ २५६

ख. लाटीसंहिता, ६/४४/४५

३. अमितगतिश्रावकाचार, ७/७६

४. वसुनन्दिश्रावकाचार, ३००

भास है।[१] दशाश्रुतस्कन्ध में कहा है कि श्रमणभूत श्रावक उस्तरे से सिर का मुंडन कराता है। साधु का आचार और भण्डोपकरण धारण कर अनगार धर्म का काय से स्पर्श करता हुआ विचरता है। त्रसजीवों की रक्षा के लिए पैरों को संकुचित कर लेता है। केवल मात्र जातिवर्ग से मोह नहीं छूटने के कारण भिक्षावृत्ति उन्हीं के घर जाकर करता है।[२] दिगम्बर परम्परा में इसको उत्कृष्ट-श्रावक या उद्दिट्ठ त्याग कहा है। रत्नकरण्डकश्रावकाचार में कहा है कि जो वन में जाकर मुनिरूप में रहकर भिक्षाग्रहण करता है, एक वस्त्रखण्ड को धारण करता है, वह उत्कृष्टश्रावक कहलाता है।[३] कार्तिकेयानुप्रेक्षा और अमितगतिश्रावकाचार में कहा है कि जो गृह छोड़कर नवकोटि से विशुद्ध आहार करता है वह उद्दिष्टत्यागी श्रावक है।[४] उपासकाध्ययन में बताया है कि जो अपने भोजन के लिए किसी प्रकार की अनुमति नहीं देता है वह उद्दिष्टत्याग प्रतिमाधारी है।[५] वसुनन्दिश्रावकाचार, सागारधर्मामृत, लाटीसंहिता आदि ने इस प्रतिमा के दो भेद किए हैं—एक क्षुल्लक और दूसरा ऐलक।[६]

---

१. "खुरमुण्डो लोएण व रयहरणं ओग्गहं च घेत्तूणं।
समणब्भूओ विहरइ धम्मं काएण फासेन्तो॥
एवं उक्कोसेणं एक्कारसमास जाव विहरेइ।
एक्काहाइपरेणं एवं सव्वत्थ पाएणं॥"
—उपासकदशांगसूत्रटीका—अभयदेव, पृष्ठ ६७-६८

२. "से णं खुरमुंडए वा लुंचसिरए वा गहियायार—भंडग—नेवत्थे।
जारिसे समणाणं निग्गंथाणं धम्मे पण्णत्ते।
केवलं से नायए पेज्जवंधणे अवोच्छिन्ने भवइ॥"
—दशाश्रुतस्कन्ध, ६/२७/११

३. "गृहतो मुनिवनमित्वा गुरुपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्षाशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः"—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, १४७

४. क. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ९०
ख. अमितगतिश्रावकाचार, ७/७७

५. उपासकाध्ययन, ८२२

६. क. वसुनन्दिश्रावकाचार, ३०१
ख. सागारधर्मामृत, ७/३७-३८
ग. लाटीसंहिता, ५६/६३

क्षुल्लक दो वस्त्र धारण करता है। केश लुञ्चन या मुण्डन भी यथा-शक्ति करा सकता है। भिक्षा विभिन्न घरों से मांगकर करता है।

ऐलक कमण्डल और मोरपिच्छि रखता है। एकमात्र लंगोटी धारण करता है वाकी सभी आचरण दिगम्वर मुनि के सदृश ही होता है।

इस प्रकार इन प्रतिमाओं को, जो कि मनुष्य के आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास की सीढ़ियाँ भी हैं, जिन्हें व्यक्ति क्रमशः शक्ति के अनुसार ग्रहण करता चला जाता है और वह साधु जीवन के नजदीक पहुँच जाता है क्योंकि विचारों की शुद्धता एवं आचरण की निष्ठा ही व्यक्ति की उन्नति के मार्ग में सहायक होती हैं।

उपरोक्त ग्यारह प्रतिमाओं के अतिरिक्त भी कुछ नियम ऐसे हैं जो श्राव-काचार में परवर्ती काल-प्रभाव से जुड़ते गये। उपासकदशांगसूत्र में उनका उल्लेख नहीं पाया जाता है चूंकि हम श्रावकाचार का वर्णन कर रहे हैं अतः संकेतात्मक रूप से उनका नामोल्लेख करना आवश्यक है।

इन नियमों में मार्गानुसारी के पैंतीस गुण, षडावश्यक, षट् कर्म, चार विश्राम, वारह भावनाएं एवं दस धर्म मुख्य हैं।

इस तरह ग्यारह प्रतिमाएँ व्यक्ति-जीवन के चारित्रिक विकास में सहयोगी हैं। क्रम से एक के वाद एक प्रतिमा ग्रहण करते रहने से व्यक्ति का आचार उन्नत एवं विकासशील वनता चला जाता है और ग्यारहवीं प्रतिमा तक पहुँचते-पहुँचते श्रावक के आचरण में इतनी पवित्रता आ जाती है कि वह श्रमणतुल्य हो जाता है।

जैन आचार के सामान्य नियमों के परिपालन से जीवन में अनेक सद्गुणों का समावेश होता चला जाता है। षडावश्यकों के नियमित क्रियान्विति होने से दैनिक जीवन धर्म से अनुप्राणित होता है। दिन भर में किये गये पापों की आलोचना करने का अवसर मिलता है और कर्मों की निर्जरा होने से श्रेष्ठ आचार का पालक वनता है। दसधर्मों एवं वारह भाव-नाओं से मानवीय मूल्यों की जीवन में वृद्धि होती है। जैन धर्म भावना-प्रधान धर्म होने से एवं उत्तम चिन्तन-मनन से सिद्ध, वुद्ध और मुक्त अवस्था की संप्राप्ति होती है।

●

षष्ठ अध्याय

उपासकदशांग में वर्णित समाज एवं संस्कृति

सामाजिक जीवन

उपासकदशांगसूत्र में तत्कालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति के सन्दर्भ में उपयोगी सामग्री प्राप्त होती है। यद्यपि यह सामग्री परिमाण की दृष्टि से मात्र उपासकदशांगसूत्र तक ही सीमित है, किन्तु मूलतः यह श्रावक समुदाय से सम्बन्धित होने के कारण इसमें श्रावकों की सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति का एक स्पष्ट चित्र उभर कर आता है जो सम्पूर्ण आगम वाङ्मय के अध्ययन के क्रम में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं मूल्यवान है।

उपासकदशांगसूत्र में सामाजिक जीवन का स्वरूप वर्ण, जाति, कुटुम्ब परिवार, स्वजन, मित्र, पति-पत्नी और तत्सम्बन्धी रिश्तों की स्थिति के सन्दर्भ में उपलब्ध होता है। ये वस्तुतः सामाजिक जीवन की आधारभूत संस्थाएँ हैं जिनका सामूहिक स्वरूप 'समाज' या 'सामाजिक संगठन' है।

(क) वर्ण एवं जाति—

उपासकदशांगसूत्र में वर्ण व जाति का उल्लेख निम्न प्रसंगों में दृष्टिगोचर होता है। सुधर्मा स्वामी महावीर द्वारा प्रतिपादित उपदेश को जम्बूस्वामी को बताते हुए कहते हैं कि 'भगवान् द्वारा भाषित अर्धमागधी भाषा सभी आर्यों और अनार्यों की भाषा में परिणत हो गयी।'[1] जातियों के सन्दर्भ में उपासकदशांगसूत्र में आर्य-अनार्य के रूप का यह एक मोटा भेद प्राप्त होता है। इसके प्रभेदों का भी उल्लेख हुआ है।

सकडालपुत्र की पत्नी अग्निमित्रा भगवान् से कहती है कि हे देवानुप्रिय! आपके पास बहुत से आरक्षक, राज्यमन्त्रिमण्डल के सदस्य, राजन्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण, सुभट, योद्धा, सैनिक, प्रशासन अधिकारी, मल्ल, लिच्छिवि आदि आकर प्रव्रजित हुए।[2] इस कथन से क्षत्रिय और ब्राह्मण जाति की

---

१. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, १/११

२. वही, ७/२१०

उपस्थिति का पता चलता है। एक अन्य प्रसंग में मंखलिपुत्र गौशालक ने सकडालपुत्र से कहा—श्रमण भगवान् महावीर महामाहण हैं।[१] इसी तरह गौशालक ने कहा कि अप्रतिहत ज्ञान के धारक तीनों लोकों द्वारा सेवित, पूजित एवं सत्कर्मसम्पत्ति से युक्त होने से महावीर को महामाहण कहता हूँ।[२] उपासकदशांगसूत्र में सकडालपुत्र को छोड़कर आनन्द, कामदेव आदि सभी को 'गाथापति' संज्ञा से सम्बोधित किया है।[३] सकडालपुत्र कुम्हार जाति का था।[४]

इस प्रकार उपासकदशांगसूत्र में आर्य-अनार्य, ब्राह्मण, महामाहण, क्षत्रिय, गाथापति, कुम्हार ये शब्द ही भारतीय समाज की वर्ण तथा जाति व्यवस्था से सम्बन्धित मिलते हैं। इनके स्वरूप एवं कार्य के सम्बन्ध में उपासकदशांगसूत्र की टीका में कुछ विशेष नहीं कहा गया है। अन्य जैन आगमों में इसका विशेष विवरण प्राप्त है। आर्य और अनार्यों के सम्बन्ध में बताया गया है कि आर्य विजेता एवं गौरवर्ण होते हैं तथा अनार्य उनके अधीन तथा कृष्ण वर्ण वाले होते हैं।[५] ब्राह्मणों को समाज में आदरणीय स्थान प्राप्त था, इसलिए अनेक स्थानों पर 'समण' तथा 'माहण' शब्द का प्रयोग साथ-साथ किया गया है।[६] क्षत्रिय बहत्तर विद्याओं का अध्ययन करते थे एवं भुजबल से देश पर शासन करते थे। संसार त्याग कर वे सिद्धि भी प्राप्त करते थे।[७] गाथापतियों को प्राचीन भारत में वैश्य माना गया हैं। ये धन-धान्य से सम्पन्न, जमीन-जायदाद और पशुओं के मालिक होते थे एवं व्यापार द्वारा धनोपार्जन करते थे।[८] मिट्टी के बर्तन बनाकर बेचने वाले व्यापारी कुम्हार कहलाते थे।[९]

---

१. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, ७/२१८
२. वही, ७/२१८
३. वही, १/३,२/९२
४. वही, ७/१८१
५. जैन, जगदीशचन्द्र—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृष्ठ २२१
६. आवश्यकचूर्णि, पृष्ठ ९३
७. जैन, जगदीशचन्द्र—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृष्ठ २२९
८. वही, पृष्ठ २२९
९. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, ७/१८४

(ख) पारिवारिक जीवन—

उपासकदशांगसूत्र में आनन्द आदि श्रावकों के कथन से संयुक्त परिवार का चित्र प्रस्तुत होता है। कोल्लाकसन्निवेश में आनन्द गाथापति के अनेक मित्र, ज्ञातिजन, निजक, सम्बन्धी तथा परिजन निवास करते थे।[1]

प्रमुख सदस्य—उपासकदशांगसूत्र में कहा गया है कि घर का मुखिया ही घर का स्वामी होता था। आनन्द ही सारे परिवार का मुख्य केन्द्रबिन्दु, प्रमाण, स्थापक, आधार, आलंबन, मार्ग-दर्शक एवं मेढी-भूत था।[2]

अन्य आगम ग्रन्थों में भी पिता या प्रपिता को घर का मुखिया या स्वामी माना गया है। सभी उस मुखिया की आज्ञा का पालन करते थे।[3]

पत्नी—आनन्द गाथापति की पत्नी शिवानन्दा उसके प्रति अनुरक्त व स्नेहशील थी, पति के प्रतिकूल होने पर भी वह विरक्त नहीं होती थी।[4] एक अन्य प्रसंग में देव ने सकडालपुत्र श्रावक को कहा कि तुम अपना व्रत भंग नहीं करोगे तो मैं तुम्हारी धर्मसहायिका, धर्मवैद्या, धर्मद्वितीया, धर्मानुरागरत्ता, समसुखदुःखसहायिका को घर से ले आऊँगा।[5] इसी तरह के और प्रसंग भी उपासकदशांगसूत्र में आते हैं, जिनसे पति-पत्नी के मधुर एवं कठोर सम्बन्धों की जानकारी मिलती है।

अन्य आगम ग्रन्थों में भी पत्नी को गृहस्वामिनी की संज्ञा दी है, जो परिवार में सब कामों का ध्यान रखती थी और अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करती थी।[6]

बहुपत्नी प्रथा—उपासकदशांगसूत्र से बहुपत्नी प्रथा की भी जानकारी

१. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, १/८
२. वही, १/५
३. आवश्यकचूर्णि, पृष्ठ ५२६
४. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, १/६
५. वही, ७/२२७
६. आवश्यकचूर्णि, पृष्ठ ५२६

मिलती है। महाशतक के रेवती आदि तेरह सुन्दर पत्नियाँ थीं।[1] संभवतः यह बहुपत्नी प्रथा सामाजिक प्रतिष्ठा एवं गौरव का प्रतीक रही हो।

दहेज प्रथा—उपासकदशांगसूत्र में दहेज से अर्थ पीहर से लायी गयी वस्तु से लिया गया है। महाशतक की पत्नी रेवती के पास अपने पीहर से प्राप्त आठ करोड़ स्वर्ण मुद्राएं तथा दस-दस हजार गायों के आठ गोकुल थे। बाकी बारह पत्नियों के पास एक-एक करोड़ स्वर्ण मुद्राएं और एक-एक गोकुल सम्पत्ति के रूप में पीहर से प्राप्त था।[2] पीहर से प्राप्त दहेज का यह स्पष्ट प्रमाण उपासकदशांग में मिलता है।

सौतिया डाह—उपासकदशांगसूत्र में कहा गया है कि पत्नियों में आपस में ईर्ष्या भी होती थी। महाशतक की पत्नी रेवती के मन में विचार उठा कि मैं अपनी बारह सौतों के विघ्न के कारण अपने पति के साथ विपुल भोग का उपभोग नहीं कर पा रही हूँ। अतः अच्छा हो कि मैं इन बारह सौतों को अग्नि-प्रयोग, विष-प्रयोग या शस्त्र-प्रयोग से मार दूँ।[3] रेवती ने अनुकूल अवसर पाकर छः सौतों को शस्त्र से एवं शेष छः को विष-प्रयोग से मार डाला।[4] सौतिया डाह का यह जघन्य उदाहरण है।

पुत्र—पुत्र माता-पिता के आज्ञाकारी होते थे। ज्येष्ठ पुत्र को घर का भार सौंपा जाता था। आनन्द आदि सभी श्रावकों ने धर्माराधना में समय नहीं मिल पाने के कारण अपने परिवार का सम्पूर्ण दायित्व अपने ज्येष्ठ पुत्रों को सौंप दिया था।[5] पिता की आज्ञा का आदर करते हुए पुत्र उस भार को विनयपूर्वक स्वीकार करते थे।[6] माँ-बाप के प्रति पुत्र की अनन्य श्रद्धा होती थी। चुलनिपिता को पिशाच द्वारा मातृ वध की धमकी दिये जाने पर चुलनीपिता ने सोचा—जो देव-गुरु सदृश पूजनीय, मेरे

---

१. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, ७/२३३
२. वही, ८/२३४
३. वही, ८/२३८
४. वही, ८/२३९
५. वही, १/६६, ८/२४५, ९/२७२, १०/२७४
६. वही, १/६७

हितार्थ अत्यन्त दुष्कर कार्य करने वाली मेरी माता को मेरे सामने लाकर मार डालना चाहता है, अतः अच्छा हो कि मैं इसे पकड़ लूँ।[1] माँ-बेटे के प्रगाढ़ रिश्तों को समझने के लिये यह घटना काफी है।

पुत्री—पुत्री के सम्बन्ध में उपासकदशांगसूत्र में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

(ग) मित्र व स्वजन—

उपासकदशांगसूत्र में स्वजन और मित्रों का भी उल्लेख आता है। इन्हें विभिन्न अवसरों पर खाने पर बुलाया जाता था। आनन्द ने सोचा—बड़े परिमाण में आहारादि तैयार करवा कर मित्र, ज्ञातिजन, निजक, स्वजन, सम्बन्धी तथा परिजन को मैं आमंत्रित करूं और उन्हें भोजन कराऊँ।[2] जिससे इस अवसर पर मैं उन्हें अपने आत्म-कल्याण के निर्णय से अवगत करा सकूँ। धर्माराधना में संलग्न होने से पूर्व आनन्द और कामदेव अपने बड़े पुत्र, मित्रों तथा जातीय जनों से अनुमति प्राप्त करना आवश्यक समझते थे और अनुमति मिलने पर पौषधशाला में जाते थे।[3]

अन्य जैनागमों में भी समय-समय पर स्वजन और सम्बन्धियों को आमंत्रित करने के दृष्टान्त प्राप्त होते हैं। महावीर के जन्म के समय अनेक मित्रों, सम्बन्धियों, स्वजनों तथा अनुयायियों को आमंत्रित किया गया था।[4]

(घ) शासन-व्यवस्था—

उपासकदशांगसूत्र में राजा को प्रजा के पालक के रूप में माना गया है। वाणिज्यग्राम, चम्पानगरी, वाराणसी, आलभिका, काम्पिल्यपुर,

---

१. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, ३/१३६

२. वही, १/६६

३. क. वही, १/६६
   ख. वही, २/९९

४. कल्पसूत्र, ५/१०४

पोलासपुर में जितशत्रु नाम का राजा राज्य करता था।[1] राजगृह में श्रेणिक राजा राज्य करता था।[2] श्रावस्ती में भी जितशत्रु राजा का ही शासन था।[3]

अन्य जैनागमों में भी प्रजा के पालक को राजा कहा जाता था जो लोकाचार, वेद, राजनीति में कुशल और धर्म में श्रद्धावान होता था।[4] यहाँ जितशत्रु को अनेक जगहों का राजा बताया गया है, यह विचारणीय है।

राज्य के प्रमुख सदस्य—उपासकदशांगसूत्र में अग्निमित्रा भगवान से कहती है कि आपके पास बहुत से आरक्षक अधिकारी, राज्य मंत्रिमण्डल के सदस्य, परामर्श मण्डल के सदस्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण, सुभट, योद्धा, प्रशासन अधिकारी, मल्ल एवं लिच्छिवि गणराज्य के सदस्य, अनेक राजा, ऐश्वर्यशाली, तलवर, मांडविक, कौटुम्बिक, धनी, श्रेष्ठी, सेनापति एवं सार्थवाह अनगार रूप में प्रव्रजित हुए।[5]

इससे यह मालूम होता है कि उस समय राज्य का शासन एकतन्त्रात्मक एवं गणतन्त्रात्मक दोनों ही प्रणालियों में प्रचलित था। राजा अपने अधीनस्थों को उचित कार्य सौंपता था। सेना और सेनापति की भी आवश्यकता रहती थी।

(ङ) न्याय व्यवस्था—

उपासकदशांगसूत्र में कहा गया है कि श्रावकों को झूठा लेख लिखना तथा झूठी गवाही देना आदि आचरण नहीं करना चाहिए।[6] इससे संकेतात्मक रूप से ज्ञात होता है कि उस समय न्याय व्यवस्था भी रही होगी।

---

१. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, १/३, २/९२, ३/१२४, ४/१५०, ५/१५७, ६/१६५, ७/१८०

२. वही, ८/२३१

३. वही, ९/२६३, १०/२७३

४. व्यवहारभाष्य, १, पृष्ठ १२८

५. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, ७/२१०

६. वही, १/४६

अपराध — उपासकदशांगसूत्र के अनुसार चोर द्वारा चुराई हुई वस्तु लेना, व्यावसायिक कार्यो में चोरों का उपयोग करना, राज्य-विरुद्ध षडयंत्र करना, कम माप-तौल करना तथा मिलावट करना अपराध है। श्रावकों को इनसे बचने के लिए कहा गया है।[१]

अपराधियों में रिश्वतखोरों, गिरहकटों, बटमारों, चोरों और जबरन चुंगी वसूल करने वाले सम्मिलित होते थे।[२]

अन्य आगमों में भी जहाजों को लूटने वाले, स्त्री-पुरुषों का अपहरण करने वाले और सार्थ को मार डालने वाले चोरों का उल्लेख मिलता है।[३] चोरी करने वाले के साथ-साथ चोरी की सलाह देने वाले, चुराई हुई वस्तु को कम मूल्य में खरीदने वाले, चोरों को आश्रय देने वाले को भी चोर माना गया है।[४]

युद्ध से सुरक्षा—उस काल में शत्रुसेना को रोकने के लिए परकोटे जैसा सुदृढ़, अवरोधक, शतघ्नी अर्थात् जिसके नीचे सैकड़ों मनुष्य कुचल कर मर जाएँ ऐसे आकार से दुर्ग निर्मित होते थे।[५] ये साधन शत्रु-सेना द्वारा आक्रमण किये जाने पर सुरक्षा हेतु बनाये जाते थे।

शस्त्र—उपासकदशांगसूत्र में शस्त्रों के रूप में चक्र, गदा, भुशुंडी आदि का उल्लेख प्राप्त होता है।[६] यह भुशुंडी पत्थर फेंकने का एक विशेष शस्त्र था।

अन्य ग्रन्थों में मुद्गर[७] भुशुंडी,[८] हल, गदा, मूसल, तोमर, परशु और शतघ्नी का उल्लेख शस्त्रों के रूप में मिलता है।[९]

---

१. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, १/४७
२. वही, १/७
३. ज्ञाताधर्मकथा, १८, पृष्ठ २०९
४. प्रश्नव्याकरणटीका, ३/३२, पृष्ठ ५३
५. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, १/७
६. वही, १/७
७. उत्तराध्ययनटीका, २, पृष्ठ ३४
८. महाभारत, २/७०/३४ ११
९. जैन, जगदीशचन्द्र—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० १०७

(च) कला और विज्ञान—

लेखन—उपासकदशांगसूत्र में लेखन-कला के संकेत भी प्राप्त होते हैं। मृषावाद के पाँच अतिचारों में कूटलेखकरण को पांचवां अतिचार माना है।[१] इसके अतिरिक्त लेखन के सम्बन्ध में उपासकदशांगसूत्र में कोई संकेत नहीं है।

अन्य आगम ग्रन्थों में लेख, लेखन-सामग्री आदि का उल्लेख प्राप्त होता है।[२]

अर्धमागधी भाषा—उपासकदशांगसूत्र में कहा गया है कि भगवान् महावीर द्वारा उद्गीर्ण अर्धमागधी भाषा उन सभी आर्य और अनार्यों की भाषा में परिणत हो गई।[३]

बर्तन—सकडालपुत्र बर्तन बनाने और बर्तन बेचने का व्यापार करता था। वह तरह-तरह के करवे, गडुए, अर्धघटक, कलसे, सुराहियां, लम्बी गर्दन वाले घड़े बनवाता था।[४] आनन्द ने पानी के लिए ऊंट के आकार के घड़े का परिमाण किया।[५] इस प्रकार उस काल में विभिन्न प्रकार के बर्तन काम में लाये जाते थे।

शिल्प—कोल्लाक सन्निवेश के राजमार्ग, अट्टालिकाओं, आश्रयस्थानों, नगरद्वारों एवं तोरणद्वारों से सुशोभित थे। उसकी अर्गला और गोपुर के किवाड़ों के आगे जुड़े हुए नुकीले भाले जैसी कीलें सुयोग्य शिल्पाचार्यों द्वारा निर्मित थीं।[६] कोल्लाक सन्निवेश के हाट-मार्ग, व्यापारक्षेत्र, बाजार आदि बहुत से शिल्पियों और कारीगरों से आवासित होने के कारण सुख-सुविधापूर्ण थे।[७]

---

१. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, १।४६

२. जैन, जगदीशचन्द्र—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृष्ठ ३००

३. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, १/११

४. वही, ७/१८४

५. वही, १/२७

६. वही, १/७

७. वही, १/७

आर्थिक जीवन

(क) उत्पादन—

आर्थिक साधन ही व्यक्ति के पथ-प्रदर्शन का एकमात्र पहलू होता है। प्रत्येक ऐसा कार्य जिससे अर्थोपार्जन होता है, उत्पादन कहा जा सकता है। भूमि, श्रम, पूंजी एवं प्रबन्ध आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के मूल कारण रहे हैं।

खेती—उपासकदशांगसूत्र में खेती के सम्बन्ध में बताया गया है कि वाणिज्य ग्राम में सैकड़ों, हजारों हलों से जुती उसकी समीपवर्ती भूमि सुन्दरमार्ग सीमा सी लगती थी।[१] वह ईख, जौ और धान के पौधों से लहलहाती थी।[२] एक अन्य प्रसंग में आनन्द एक हल के हिसाब से पाँच सौ हलों के अतिरिक्त समस्त वस्तुविधि का परित्याग करता है।[३] पन्द्रह कर्मादानों के वर्णन में स्फोटकर्म का उल्लेख है[४] जो खेतों में हल चलाने से सम्बन्धित है। इससे स्पष्ट है कि खेती करना उस समय आजीविका चलाने का एक प्रमुख कर्म था।

खेती की फसल—प्राचीन समय में चावल की खेती बहुतायत से होती थी। आनन्द द्वारा ओदण विधि का परिमाण करते हुए कलमजाति के धान के चावलों के सिवाय और सभी प्रकार के चावलों का परित्याग करने का प्रसंग आता है।[५]

अन्य जैनागमों में खेती व उसकी फसलों के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। उनमें उल्लेख है कि हलों में बैल जोतकर खेती की जाती थी, ठीक समय पर बैल को जोतने से खेती अच्छी होती थी।[६] फसलों में चावलों को अन्य आगमों में भी प्रमुख स्थान दिया है। कलमशालि किस्म

---

१. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, १/७
२. वही, १/७
३. वही, १/९
४. वही, १/५१
५. वही, १/३५
६. उत्तराध्ययन टीका, १/१०

का चावल पूर्वी प्रान्तों में पैदा होता था। वर्षा होने पर उसे छोटी-छोटी क्यारियाँ बनाकर खेतों में बोया जाता था। फिर एक स्थान से दूसरे स्थान पर रोपा जाता, रक्षा की जाती एवं बाद में काटा जाता था।[१] मसाले, गन्ने व कपास की भी खेती का भी उल्लेख मिलता है।[२]

उद्यान—उपासकदशांग में विभिन्न उद्यानों और चैत्यों का वर्णन प्राप्त होता है एवं उनमें अनेक पुष्पों का उल्लेख मिलता है। चम्पानगरी में पूर्णभद्र चैत्य,[३] वाराणसी में कोष्टक चैत्य,[४] आलभिका में शंखवनउद्यान,[५] काम्पिल्यपुर व पोलासपुर में सहस्र आम्रवनउद्यान,[६] राजगृह में गुणशील चैत्य,[७] श्रावस्ती में कोष्ठव चैत्य का उल्लेख प्राप्त होता है।[८]

अन्य जैन आगमों में कहा गया है कि उद्यान नगर के पास होने से क्रीड़ास्थल भी होता था।[९] वहाँ वृक्ष, लता एवं कुंज बने रहते थे जहाँ धनाढ्य लोग क्रीड़ा करते थे।[१०] इसमें भाँति-भाँति के फूल खिलते थे।[११]

पशुपालन—उपासकदशांगसूत्र में पशुपालन का उल्लेख प्राप्त होता है। आनन्द गाथापति के चार व्रज थे, प्रत्येक व्रज में दस हजार गायें थीं।[१२] कोल्लाक सन्निवेश में मुर्गों और युवा साँड़ों के बहुत से समूह थे। वहाँ गायों, भैंसों और भेड़ों की प्रचुरता थी।[१३] गायों के गोकुल के

---

१. स्थानांगसूत्र, ४/३५५
२. जैन, जगदीशचन्द्र—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृष्ठ १२२
३. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, १/१, २/९२
४. वही, ३/१२४; ४/१५०
५. वही, ५/१५७
६. वही, ६/१६५, ७/१८०
७. वही, ८/२३१
८. वही, ९/२६९, १०/२७३
९. निशीथसूत्र, ८/२
१०. व्याख्याप्रज्ञप्तिटीका, पृष्ठ २२७-२२८
११. निशीथसूत्र, ७/१
१२. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, १/४
१३. वही, १/७

सन्दर्भ अन्य श्रावकों केवर्णन में भी आते हैं। बैलों को वधिया करने का भी उस समय रिवाज था। जिसे निर्लाञ्छन कर्म कहा है।[1]

अन्य जैन आगमों में भी पशुओं को धन माना गया है। गाय, बैल, भैंस तथा भेड़ें राजा की सम्पत्ति गिनी जाती थीं।[2] पशुओं के समूह को व्रज, गोकुल अथवा संगिल्ल कहा गया है।[3]

वृक्ष—उपासकदशांग में वृक्षों का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। श्रावकों के पन्द्रह कर्मादानों में अंगार कर्म और वन कर्म ये दो नाम इससे सम्बन्ध रखते हैं।[4] जंगलों से लकड़ी प्राप्त करने के लिए वृक्षों को गिराना वन कर्म और वृक्षों की लकड़ियों को जलाकर कोयला बनाकर बेचने के व्यापार को अंगार कर्म कहा है।

व्यापार—उपासकदशांगसूत्र में पन्द्रह कर्मादानों का वर्णन उस समय प्रचलित व्यापार की सूचना देता है। इनमें हाथीदाँत, लाख, चर्बी, मधु, अस्त्र-शस्त्र, तेल आदि के व्यापार का उल्लेख प्रमुख है।[5] मिट्टी के वर्तनों का व्यापार भी बड़ी मात्रा में होता था। पोलासपुर में सकडालपुत्र कुम्हार रहता था। शहर के बाहर उसकी ५०० दुकानें थी, जहाँ बहुत से नौकर-चाकर काम करते थे। वे पहले मिट्टी में पानी डालकर उसे सानते, फिर राख और गोबर मिलाकर चाक पर रखकर इच्छानुसार करक, वारुक, पराते और कुण्ड़े बनाते थे। साथ ही छोटे घड़े, कलश, सुराहियाँ, उष्ट्रिका आदि वर्तनों का निर्माण भी वे करते थे।[6]

अन्य जैन आगमों में भी लुहार,[7] हाथी-दाँत का व्यापार[8], कुम्हार[9]

---

१. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, १/५१
२. औपपातिक सूत्र, ६
३. व्यवहारभाष्य. २/२३
४. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, १/५१
५. वही, १/५१
६. वही, ७.१४८
७. उत्तराध्ययनसूत्र, १९/६६
८. आवश्यकचूर्णि, २, पृष्ठ २९६
९. अनुयोगद्वारसूत्र, १३२

वढ़ई[1], कर्मकार[2] एवं रंग बनाने वाले का उल्लेख मिलता है।[3]

पुष्पमालाएँ—उपासकदशांगसूत्र में विभिन्न पुष्पों की मालाओं का उल्लेख आता है। आनन्द अपने घर से कुरण्ट पुष्पों की माला से युक्त होकर निकला।[4] पुष्पविधि का परिमाण करते हुए एक बार आनन्द ने कहा—मैं श्वेतकमल तथा मालती के फूलों की माला के सिवाय अन्य सभी प्रकार के फूलों के धारण करने का परित्याग करता हूँ।[5]

सुगन्धित द्रव्य—उस समय विभिन्न जातियों में सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग होता था। आनन्द ने धूपविधि का परिमाण करते हुए अगर, लोहवान एवं धूप के सिवाय सभी धूपनीय वस्तुओं का[6] तथा मालिश के सहस्रपाक एवं शतपाक तेलों के अतिरिक्त सभी मालिश के तेलों का परित्याग किया था।[7] मुखवास विधि में पांच सुगन्धित वस्तुओं से युक्त पान के सिवाय सब सुगन्धित वस्तुओं का परिमाण किया था।[8] उपासकदशांग-सूत्रटीका में पाँच सुगन्धित वस्तुओं में इलायची, लौंग, कपूर, दालचीनी एवं जायफल का उल्लेख आता है।[9] अगरु, कुंकुम और चन्दन के अतिरिक्त विलेपन द्रव्यों के परित्याग का भी वर्णन है।[10]

अन्य आगमों में अलसी, कुसुम्भा और सरसों से तेल निकालने का उल्लेख है।[11] अनेक प्रकार का सुगन्धित जल काम में लिया जाता था।[12]

---

१. आवश्यकचूर्णि, पृष्ठ ११५
२. निशीथचूर्णि, ११, पृष्ठ २९२
३. ज्ञाताधर्मकथा, १, पृष्ठ १०
४. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, १/१०
५. वही, १/३२
६. वही, १/३२
७. वही, १/२५
८. वही, १/४२
९. वही, १/४३
१०. वही, १/२९
११. आवश्यकचूर्णि, २, पृष्ठ २१९
१२. औपपातिकसूत्र, ३१

सुगन्धित द्रव्यों में इलायची, चम्वा, कुंकुम, चन्दन, खस, मरुआ, जूही, मल्लिका, केतकी, अगरु एवं कर्पूर का भी उल्लेख आता है।[1]

अन्य पेशेवर व्यक्ति—कोल्लाक सन्निवेश में नट, नर्तक, कलावाज, पहलवान, मुक्केवाज, वीररस की गाथाएँ गाने वाले, शुभ-अशुभ बताने वाले, तन्तु वजाकर आजीविका करने वाले, तुँब वजाने वाले, ताली वजाने वाले आदि अनेक जनों का निवास था।[2]

अन्य आगमों में भी ऐसे व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है जो श्रमिक वर्ग में सम्मिलित नहीं होने पर भी समाज के लिए उपयोगी थे। इनमें त्रिकित्सक, नैमित्तिक, विदूषक, नट, नर्तक आदि मुख्य हैं।[3]

पूंजी—भूमि को छोड़कर अन्य सभी प्रकार का धन पूंजी के अन्तर्गत गिना जाता है। आनन्द श्रावक के पास चार करोड़ स्वर्ण खजाने में या जमीन में गाड़कर रखा गया था, जिसके लिये 'निहाण पउत्ती' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसी तरह चार करोड़ व्यापार में और चार करोड़ घर के वैभव में लगा हुआ था।[4] इसी प्रकार की पूंजी अन्य श्रावकों के पास भी थी।[5]

अन्य आगमों में कहा गया है कि कुछ लोग पूंजीपति कहलाते थे। इनके पास पर्याप्त मात्रा में हिरण्य, सुवर्ण, धन-धान्य, वल, वाहन, कोश, रत्न, मणि, मौक्तिक आदि रहते थे।[6]

(ख) विभाजन—

उपार्जित आय को पेशे से सम्बन्धित व्यक्तियों में बाँटने को विभाजन कहा जाता है।

वेतन व मजदूरी—पोलासपुर नगर के वाहर आजीविकोपासक सकडालपुत्र के यहां भोजन तथा मजदूरी के रूप में वेतन पर काम करने

१. राजप्रश्नीयसूत्र, ३९
२. उवासगदसाओ–मुनि मधुकर १/७
३. औपपातिकसूत्र, १, पृष्ठ २
४. उवासगदसाओ–मुनि मधुकर, १/४, २/९२
५. वही, ३/१२५,४/१५०, ५/१६५, ७/१८२,८/२३१, ९/२६९, १०/२७३
६. उत्तराध्ययनसूत्र, ९/४६

वाले बहुत से पुरुष बर्तन बनाते थे एवं भोजन और वेतन पर काम करने वाले बहुत से पुरुष बिक्री के काम में लगे थे।[१]

अन्य जैनागमों में श्रम के लिए भत्ता देने को वेतन कहा है। वेतन रुपये पैसे एवं जिन्सों में दिया जाता था। हिस्सेदार का आधा, चौथाई और मुनाफे का छठाँ हिस्सा इस तरह विभाजन कर दिया जाता था।[२]

लाभ– उपासकदशांगसूत्र में आनन्द श्रावक के प्रसंग में 'वुड्ढी' शब्द का अर्थ ब्याज या लाभ से किया है। कहा है कि आनन्द का चार करोड़ स्वर्ण वृद्धि में प्रवर्तित था।[३]

यान और वाहन––उपासकदशांगसूत्र से यान और वाहन सम्बन्धी जानकारी भी मिलती है। कोल्लाकससन्निवेश में अनेक उत्तम घोड़े, मदोन्मत्त हाथी, रथसमूह, शिबिका, स्यन्दमानिका, यान, युग्म का जमघट लगा रहता था।[४] आनन्द ने वाहन विधि का परिमाण करते हुए कहा कि मैं पाँच सौ वाहन दिग्-यान्त्रिक तथा पाँच सौ गृह उपकरणों के सिवाय सब वाहनों का परित्याग करता हूँ।[५] एक अन्य प्रसंग में आनन्द ने अपने सेवकों से कहा कि तेज चलने वाले, एक जैसे खुर, पूँछ तथा अनेक रंगों से चित्रित सिंग वाले दो युवा बैलों द्वारा खींचे जाते श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त धार्मिक कार्यों के उपयोग में आने वाला यान प्रवर शीघ्र उपस्थित करो।[६]

अन्य आगम ग्रन्थों में भी बढ़िया किस्म के यानों में रथ का उल्लेख मिलता है, जिनमें घोड़े जोते जाते थे।[७] शिविका, स्यन्दमानी का उपयोग राजाओं द्वारा किया जाता था।[८]

---

१. उवासगदसओ–मुनि मधुकर, ७/१८४
२. स्थानांगसूत्र, ३/२८
३. उवासगदसाओ–मुनि मधुकर, १/४
४. वही, १/७
५. वही, १/२१
६. वही, १/५९, ७/२०६
७. आवश्यकचूर्णि, पृष्ठ १८८
८. राजप्रश्नीय टीका, पृष्ठ ६

(ग) विनिमय—

आर्थिक लेन-देन को विनिमय कहा जाता है। यह उत्पादन और विभाजन तथा उत्पादन और उपभोग के बीच कड़ी का काम करता है। उपासकदशांगसूत्र में विनिमय के लिये मुद्रा के प्रयोग का उल्लेख हुआ है।

मुद्रा – यहाँ हिरण्य, सुवर्ण व कांस्य मुद्राओं का उल्लेख है। आनन्द के पास चार करोड़ सुवर्ण खजाने में रखा था।[1] महाशतक के पास आठ करोड़ कांस्य परिमित स्वर्ण मुद्राएँ व्यापार के लिये थीं।[2]

अन्य आगमों में सुवर्ण, कार्षापण, मास, अर्द्धमास व रूपक का उल्लेख मिलता है।[3] पण्णग[4] एवं पायंक[5] मुद्राओं का भी चलन था।

उधार—उपासकदशांगसूत्र के अनुसार उस समय उधार लेन-देन भी होता था। एक प्रसंग में कूटलेखकरण का उल्लेख भी है[6] अर्थात् रुपया उधार लेते समय कूटलेख या छल कपट युक्त लेख लिख देते थे।

अन्य आगमों में भी उधार के प्रसंग मिलते हैं, लोग उधार लेकर वापिस नहीं देते थे।[7] यदि कोई उधार देने में समर्थ नहीं होता तो उनके घर के बाहर मैली-कुचैली झंडी लगा दी जाती थी।[8]

लेन-देन में छल—उधार लेते-देते समय कूट लेख तो होता ही था, किन्तु उपासकदशांगसूत्र में अस्तेयव्रत के अतिचार में कूटतुला और कूटमान का उल्लेख भी आता है। इससे मालूम होता है कि उस समय नाप-तौल के लेन-देन में छल-कपट होता था।[9]

---

१. उवासगदसाओ–मुनि मधुकर, १/४, २/९२, ३/११५, ४/१५०
२. वही, ८/२३२
३. सूत्रकृतांगसूत्र, २/२, पृष्ठ ३२७
४. व्यवहारभाष्य, ३/२६७
५. आवश्यकटीका, पृष्ठ ४३२
६. उवासगदसाओ–मुनि मधुकर, १/४३
७. आवश्यकटीका, पृष्ठ ८२०
८. निशीथभाष्य, ११/३७०४
९. उवासगदसाओ – मुनि मधुकर १/४७

अन्य आगमों में भी इसी तरह की बेईमानी का उल्लेख प्राप्त होता है।[1]

(घ) उपभोग

खाद्य-पदार्थ—उपासकदशांगसूत्र में चार प्रकार के भोजन का उल्लेख मिलता है। अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य।[2] भोज्य पदार्थों में काष्ठ पेय,[3] घेवर, खाजे,[4] कलमजाति के चावल,[5] मटर, मूंग व उड़द की दाल,[6] शरद् ऋतु में उत्तम गो-घृत,[7] सब्जियों में बथुआ, लौकी, सुआपालक तथा भिंडी,[8] पालंग—माधुरक का पेय,[9] आकाश से गिरा हुआ पानी,[10] कांजी-बड़े तथा खटाई में पड़े मूंगदाल के पकौड़े आदि व्यंजनों का प्रचलन था। आनन्द श्रावक ने इनके त्याग का नियम लिया था।[11]

अन्य जैनागमों में भोज्य पदार्थों में दूध, दही, मक्खन, घी, तेल, मधु, मदिरा, गुड़, मांस,[12] राव,[13] भूने हुए गेहूँ से निर्मित खाद्यान्न, श्रीखण्ड आदि का नामोल्लेख प्राप्त होता है।[14] मोदक लोगों का प्रिय मिष्टान्न था।[15] व्यञ्जनों में अठारह प्रकार के व्यञ्जनों का उल्लेख मिलता है।[16]

---

१. उत्तराध्ययनटीका, ४, पृष्ठ ८१
२. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, १/५८, १/६४
३. वही, १/३३
४. वही, १/३४
५. वही, १/३५
६. वही, १/३६
७. वही, १/३७
८. वही, १/३८
९. वही, १/३९
१०. वही, १/४१
११. वही, १/४०
१२. आवश्यकचूर्णि, २, पृष्ठ ३१९
१३. बृहत्कल्पभाष्य, २/३४७६
१४. आचारांगसूत्र २/१/४
१५. आवश्यकचूर्णि, पृष्ठ ३५६
१६. स्थानांगसूत्र, ३/१३५

मदिरापान—उपासकदशांगसूत्र में कहा गया है कि पन्द्रह कर्मादानों को जानना चाहिये, किन्तु उसका आचरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसमें रसवाणिज्य भी है।[1] रसवाणिज्य का अर्थ टीकाकार ने मदिरा आदि रसों का व्यापार किया है। एक अन्य प्रसंग में रेवती शराब के नशे में उन्मत्त लड़खड़ाती हुई एवं बाल बिखेरकर महाशतक के पास आई थी।[2] इससे स्पष्ट है कि उस समय मदिरापान का प्रचलन था।

अन्य जैन आगमों में भी मदिरा पीने-पिलाने तथा राजा-महाराजाओं के सत्कार के लिए उपयोग में लाने के प्रसंग आते हैं। ज्ञाताधर्मकथा में उल्लेख है कि द्रौपदी के स्वयंवर पर विविध प्रकार की सुरा, मद्य, सीधु, प्रशन्ना द्वारा राजा-महाराजाओं का सत्कार किया था।[3]

मांस-भक्षण—महाशतक गाथापति की पत्नी रेवती मांस-भक्षण में तत्पर रहती थी। वह लोहे की सलाखों पर सेके हुए, घी आदि में तले हुए तथा आग पर भुने हुए बहुत प्रकार के मांस एवं सुरादि का आस्वादन करती थी।[4] एक अन्य प्रसंग में रेवती अपने पीहर के नौकरों से प्रतिदिन दो-दो बछड़े मंगाकर उनका मांस खाती थी।[5]

अन्य आगमों में भी मांस तलकर, भूंजकर, सुखाकर एवं नमक मिलाकर तैयार करने का विवरण प्राप्त होता है।[6] ऐसे भोज का भी उल्लेख मिलता है, जहाँ जीवों को मारकर मांस अतिथियों को परोसा जाता था।[7] परन्तु जैन परम्परा में सामान्यतः इस प्रकार के भोजन का कठोरता से निषेध था।

---

१. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, १/५१

२. वही, २/२४६

३. ज्ञाताधर्मकथा, १६

४. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, ८/२४०

५. वही, ८/२४३

६. विपाकसूत्र, २

७, जैन, जगदीशचन्द्र—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृष्ठ २०९

वस्त्र—भगवान महावीर के आगमन को जानकर आनन्द ने सभायोग्य शुद्ध व मांगलिक वस्त्र पहने।[१] आनन्द ने वस्त्र विधि का परिमाण करते हुए दो सूती वस्त्रों के सिवाय अन्य सभी प्रकार के वस्त्रों के परित्याग का नियम लिया।[२] आनन्द ने शरीर पोंछने के लिए एक सुगन्धित और लाल रंग के अंगोछे के अतिरिक्त सभी का त्याग किया।[३] इससे लगता है कि सूती वस्त्रों के अलावा अन्य प्रकार के वस्त्र भी उस समय प्रचलित थे।

अन्य आगमों में कहा गया है कि लोग सुन्दर वस्त्र धारण करते थे।[४] सभा में जाने के लिए शुक्ल वस्त्रों के धारण करने का उल्लेख भी मिलता है।[५] साथ ही चार प्रकार के वस्त्रों का भी उल्लेख है :—प्रतिदिन पहनने योग्य, स्नान के पश्चात् पहनने योग्य, उत्सव और मेले में पहनने योग्य एवं राजा-महाराजा से भेंट के समय पहनने योग्य।[६]

आभूषण—राजा, मनुष्य, स्त्री व पशुओं से सम्बन्धित विभिन्न आभूषणों का उल्लेख भी उपासकदशांगसूत्र में मिलता है। एक प्रसङ्ग में राजा जितशत्रु ने तीर्थंकरों के छत्र आदि अतिशयों को देखकर अपने हाथी से उतर कर तलवार, छत्र, मुकुट, चंवर को अलग किया था।[७] आनन्द ने भी सभा में जाने के लिए बहुमूल्य आभरणों से शरीर को अलंकृत किया था।[८] आभरण विधि का परिणाम करते समय आनन्द ने शुद्ध सोने के अचित्रित कुण्डल एवं नामांकित मुद्रिका के सिवाय सब गहनों का त्याग किया था।[९] आनन्द की सलाह से जब उसकी पत्नी शिवानन्दा भगवान महावीर के दर्शन करने के लिए जाने को तैयार हुई, उस समय उसके

१. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, २/१०, १/५९
२. वही, १/२८
३. वही, १/२२
४. कल्पसूत्र, ४/८२
५. वृहत्कल्पभाष्य, ५/६०३५
६. वही, पीठिका, ६४४
७. उवासगदसाओ—मनि मधुकर, १/९
८. वही, १/१०
९. वही, १/३१

प्रस्थान के लिए रथ और बैलों को विभिन्न आभूषणों से अलंकृत किया था। बैलों को उनके गले में सोने का गहना, जोत तथा चाँदी की लटकती हुई घंटियाँ और नाक में उत्तम सोने के तारों से मिश्रित पतली सी सूत की नाथ से जुड़ी रास आदि पहनाये गये। इसी तरह रथ को अनेक प्रकार की मणियों और सोने की बहुत सी घण्टियों से युक्त किया गया था।[1]

अन्य जैनागमों में चौदह प्रकार के आभूषणों का वर्णन प्राप्त होता है। जिनमें हार, अर्धहार, एकावलि, कनकावलि, रत्नावलि, आदि प्रमुख हैं।[2] सुवर्णपट्ट से श्रेष्ठियों का मस्तक भूषित किया जाता था एवं नाम-मुद्रिका अंगूठी में पहनी जाती थी।[3]

आमोद-प्रमोद—आमोद-प्रमोद के साधनों में नट, नर्तक, जल्ल, मल्ल, मोष्टिक, विडंवक, कथक, प्लवक, लासक, आख्यायक, लंख, मंख, तूणइल्ल, तुंववीणिक, तालाचर आदि का उस समय प्रचलन था। मनोरंजन के लिए क्रीड़ा, वाटिका, उद्यान आदि स्थानों का प्रयोग भी होता था।[4] गाथापति आनन्द गेहूँ के सुगन्धित आटे से उवटन भी कराता था। इस उवटन के प्रयोग के अलावा उसने सभी का त्याग कर दिया था।[5]

बीमारियाँ एवं दवाइयाँ—उपासकदशांग में १६ प्रकार की औषधियों का वर्णन प्राप्त है। इस सम्बन्ध में इससे अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती है।[6]

धार्मिक जीवन

उपासकदशांगसूत्र में धार्मिक जीवन का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

---

१. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, १/५९, ७/२०६
२. जैन, जगदीशचन्द्र—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृष्ठ १४२
३. वही, पृष्ठ १४३
४. उवासगदसाओ - मुनि मधुकर, १/६०
५. वही, १/२६
६. वही, १/४३

उस समय जैन धर्म के अलावा अन्य मत भी प्रचलित थे। महावीर के अनुयायी श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका के रूप में धार्मिक क्रियाओं का पालन करते थे। उपासकदशांगसूत्र में जो तीर्थङ्कर शब्द प्रयुक्त हुआ है, वह साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चार तीर्थों की स्थापना के संदर्भ में है। भगवान महावीर को उपासदशांगसूत्र में 'आदिकर' तीर्थङ्कर कहा गया है।[1] गोशालक ने महावीर को 'महामाहण' भी कहा है।[2]

श्रमण संघ—उपासकदशांगसूत्र के अनुसार भगवान महावीर अपने श्रमण संघ सहित विहार करते थे।[3] उस समय उनके श्रमण संघ में चौदह हजार श्रमण एवं छत्तीस हजार श्रमणियाँ थीं।[4] अनेक आचार्य-वाहर भी विचरण करते थे।[5] श्रावक-श्राविकाओं की संख्या भी उस समय विशाल थी। उनमें आनन्द, कामदेव, चुलनिपिता, सकडालपुत्र आदि दस श्रावक और शिवानन्द आदि श्राविकायें प्रमुख थीं।

आहार-विहार व आश्रय स्थल—उपासकदशांगसूत्र में उल्लेख मिलता है कि इन्द्रभूति गौतम वाणिज्यग्राम मे आहार लेने गये थे, उस समय आनन्द को अवधिज्ञान होने के वारे में उन्हें भ्रान्ति हुई थी, इस घटना से पता चलता है कि साधु-साध्वी आहार लेने के लिए गाँव या नगर में स्थित अपने अनुयायियों के यहाँ पर जाते थे। इसी तरह उपासकदशांगसूत्र से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय महावीर और उनके श्रमण समुदाय का विचरण क्षेत्र मुख्यतया चम्पा, वाराणसी, वाणिज्यग्राम, आलभिका, काम्पिल्यपुर, पोलासपुर, राजगृह और श्रावस्ती आदि नगर थे। महावीर और उनके सहवर्ती साधु, साध्वी प्रायः नगर के वाहर चैत्य, उद्यान एवं वन मे ही ठहरते थे। ऐसे चैत्यों में—पूर्णभद्रचैत्य, दूतिपलाशचैत्य, कोष्टक-चैत्य; उद्यानों मे—गुणशील उद्यान, वनों में शंखवन, सहस्राम्र वन आदि मुख्य थे। महावीर के श्रावक भी उन्हें अपने साधु-साध्वी सहित अपने

---

१. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, १/९
२. वही, ७/२१८
३. वही, १/९
४. वही, १/९
५. जैन, जगदीशचन्द्र—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृष्ठ ३८९

यहाँ आकर ठहरने का निमन्त्रण देते थे। इसी तरह का निमंत्रण देते हुए सकडालपुत्र ने वन्दना और नमस्कार कर महावीर से कहा था कि भगवन् पोलासपुर नगर के वाहर मेरी पाँच सौ कुम्हारगिरी की धर्मशालायें हैं आप वहाँ प्रतिहारिक, पीठ, संस्तारक ग्रहण कर विराजें।[१] भगवान महावीर चातुर्मास को छोड़कर शेप समय एक से दूसरे जनपद में विचरण करते थे।[२]

धर्म व आचार—उपासकदशांगसूत्र में भगवान ने धर्म दो प्रकार का वताया है—अगार धर्म और अनगारधर्म। अनगारधर्म में साधक सर्वत्र सर्वात्मना सावद्य कार्यों का परित्याग करता है। भगवान ने अगार धर्म के फिर वारह भेद वतलाए हैं—पाँच अणुव्रत एवं सात शिक्षाव्रत।[३] एक अन्य प्रसंग में आनन्द श्रावक कहता है कि जिस प्रकार आपके पास अनेक राजा, ऐश्वर्यशाली, तलवर, माडंविक, कौटुम्विक, श्रेष्ठि, सेनापति आदि मुण्डित होकर अनगार रूप में प्रवजित हुए हैं उस तरह मैं प्रवजित होने में असमर्थ हूँ, इसलिए आपके पास पाँच अणुव्रत एवं सात शिक्षाव्रत मूलक वारह गृही-धर्म को स्वीकार करना चाहता हूँ।[४] श्रावक आचार के प्रत्येक व्रत का विस्तृत वर्णन भी पाया जाता है।[५]

व्रत-पालन में उपसर्ग—उपासकदशांगसूत्र में वर्णित दस श्रावकों में से सात श्रावकों को देवजन्य, मानवजन्य एवं वाद-विवादजन्य उपसर्गों का सामना करना पड़ा। कामदेव को उपासना में लीन देखकर पिशाच रूपधारी देव अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसने तलवार से कामदेव पर वार किया और टुकड़े-टुकड़े कर डाले।[६] हाथी के रूप में देव ने कामदेव को सूँड में पकड़कर आकाश में उछाला और गिरते हुए को अपने तीक्ष्ण दाँतों से झेलकर जमीन पर तीन वार पैरों से रौंदा।[७] सर्प के रूप में उसने काम-

---

१. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, ७/१९३
२. जैन, जगदीशचन्द्र—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृष्ठ ३७९
३. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, १/११
४. वही, १/१२, ७/२१०
५. वही, १/१३–४३
६. वही, २/९९
७. वही, २/१०६

देव के गले में लिपट कर तीखे और जहरीले दाँतों से उसकी छाती पर डंक मारा।[1] चुलनिपिता को पिशाचरूप देव ने उसके पुत्र को मारकर तीन मांस खण्ड किये व उबलते पानी की कढ़ाई में खौलाया एवं उसके मांस और रक्त से चुलनिपिता के शरीर पर छिटकाव किया।[2] सुरादेव श्रावक को देव ने व्रत नहीं छोड़ने पर विभिन्न प्रकार के सोलह भयंकर रोग उत्पन्न करने की धमकी दी।[3] इसी तरह की धमकी चुल्लशतक को देव ने देते हुए कहा यदि तुम व्रत नहीं छोड़ोगे तो तुम्हारी सभी स्वर्ण मुद्राओं को आलभिका नगरी के तिराहे, चौराहे आदि में बिखेर दूंगा।[4] कुण्डकौलिक और देव ने नियतिवाद तथा पुरुषार्थवाद पर परस्पर वाद-विवाद किया।[5] व्रत नहीं छोड़ने पर देव ने सकडालपुत्र की पत्नी की हत्या करने एवं उसके मांसखंड उबलते पानी में खौलाकर उस मांस और रक्त से शरीर पर छिड़काव करने के लिए कहा।[6] महाशतक को ब्रह्मचर्यजन्य उपसर्ग हुआ। स्वयं उसकी पत्नी रेवती ने मोह और उन्मादजनक कामोद्दीपन चेष्टाएँ प्रदर्शित कीं। धर्म-पुण्य, स्वर्ग, मोक्ष से विषय सुख प्राप्त नहीं होने की बात कही।[7] इस प्रकार श्रावकों की साधना में उपसर्ग आने का उल्लेख उपासकदशांगसूत्र में विस्तार से हुआ है।

अन्य जैन आगमों में भी स्त्री और नपुंसकजन्य उपसर्ग होते थे[8]। साधु कामवासना के वशीभूत होकर घृणित कार्यों को करते थे।[9] अन्यतीर्थिकों के साथ कभी-कभी वाद-विवाद में संघर्ष भी करना पड़ता था।[10]

---

१. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, २/१०९
२. वही, ३/१३०, ४/१५१, ५/१५८
३. वही, ४/१५२
४. वही, ५/१६०
५. वही, ६/१६८-१७१
६. वही, ७/२२७
७. वही, ८/२४६
८. वृहत्कल्पभाष्य, १/२४९३-९९
९. सूत्रकृतांग सूत्र, ४/२
१०. निशीथभाष्य, ५/२

अन्य धार्मिक मत—उपासकदशांगसूत्र में तत्कालीन अन्य धार्मिक मतों का भी उल्लेख हुआ है आनन्द ने प्रतिज्ञा की थी कि आज से मैं अन्य यूथिक और उनके देव को चैत्य, आलाप-संलाप, धार्मिक दृष्टि से अशन, पान, खादिम, स्वादिम आदि देने का कार्य नहीं करूंगा।[१] प्रारम्भ में सकडालपुत्र आजीविक सिद्धान्त का अनुयायी था।[२] उसने एक दिन दोपहर के समय मंखलिपुत्र गोशालक के पास अंगीकृत धर्म शिक्षा के अनुरूप उपासना आरम्भ की थी।[३]

अन्य आगमों में भी आजीविक सम्प्रदाय का वर्णन प्राप्त होता है, साथ ही क्रियावादी अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी आदि चार मिथ्यादृष्टि मतों का भी उल्लेख है।[४]

ऐतिहासिक व भौगोलिक विवरण

उपासकदशांग में आठ नगरों, तेरह उपनगरों, चैत्यों का उल्लेख मिलता है। साथ ही नगरों की भौगोलिक स्थिति का भी वर्णन प्राप्त होता है।

नगर—उपासकदशांगसूत्र में चम्पा, वाराणसी, वाणिज्यग्राम, आल-भिका, काम्पिल्यपुर, पोलासपुर, राजगृह और श्रावस्ती इन आठ नगरों का वर्णन मिलता है।

१. चंपा—प्रथम आनन्द अध्ययन में चम्पा नगरी का उल्लेख है, कामदेव श्रावक चम्पा नगरी में निवास करता था।[५] चम्पा साढ़े पच्चीस आर्य देशों में सम्मिलित थी और यह अंग देश की राजधानी थी। स्थानांग-

---

१. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, १/५८
२ वही, ७/१८१
३. वही, ७/१८५
४. सूत्रकृतांगसूत्र, १/१२/१
५. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, १/१, २/९२
६. क. दी एनशियेन्ट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया, पेज-५४६-५४७
   ख. जैन, प्रेमसुमन, कुवलयमाला का सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ ६४

सूत्र में १० राजधानियों में चम्पा का वर्णन मिलता है।[1] चंपा व्यापार का मुख्य केन्द्र थी। वहां दूर-दूर से व्यापारी माल लेकर आते और वापस माल लेकर मिथिला आदि को जाते थे। वर्तमान में भागलपुर से २४ मील पर जो पत्थर घाट है उसी के आस-पास इसे माना जाता है।[2]

२. **वाणिज्यग्राम**—आनन्द का निवास वाणिज्यग्राम में माना गया है।[४] यह वैशाली के सन्निकट गंडकी नदी के तट पर स्थित है। वर्तमान में इसका नाम वानिया[3] या वजिया गांव है, जो आधुनिक बसाढ़ के पास है।[४]

३. **वाराणसी**—चुलनिपिता और सुरादेव वाराणसी में निवास करते थे।[5] यह गंगा के पश्चिमी तट पर वसा हुआ नगर है। इसके एक ओर वरुणानदी तथा दूसरी ओर अस्सीनाला वहता है, अतः दोनों के बीच में होने से इसे वाराणसी कहते हैं।[6] यह काशी जनपद की राजधानो थी तथा राजनैतिक, व्यापारिक, वौद्धिक व धार्मिकता का केन्द्र थी।[7]

४. **आलभिया**—चुल्लशतक आलभिया नगरी में निवास करता था।[8] आलभिया नगर आलभिया जनपद की राजधानी थी। यह श्रावस्ती से ३० योजन व राजगृह से १२ योजन दूर है। कन्निङ्घम तथा हार्नले ने इसकी पहचान उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के नावाल एवं नेवाल नामक स्थान से बताई है, परन्तु नन्दलाल डे के मतानुसार इटावा से २७ मील दूर अविवा नामक स्थान ही आलभिया है।[9] परन्तु देवेन्द्र मुनि के अनुसार महावीर के विचरण क्षेत्रों पर विचार करने पर उपर्युक्त मत की पुष्टि नहीं होती

---

१. स्थानांगसूत्र, १०/७१७
२. उवासगदसाओ —मुनि मधुकर, १/३
३. उपासकदशांगसूत्र—मुनि आत्माराम, पृष्ठ ३८८
४. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि—भगवान महावीरः एक अनुशीलन, परिशिष्ट, पृष्ठ ८०
५. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, ३/१२४, ४/१५०
६. उपासकदशांगसूत्र—मुनि आत्माराम, पृष्ठ ३८८
७. जैन, प्रेमसुमन—कुवलयमाला का सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ ७१
८. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, ५/१५७
९. उपासकदशांगसूत्र—मुनि आत्माराम, पृष्ठ ३८७

है। यह आलभिया नगरी उनके अनुसार प्रयाग या मगध में होनी चाहिए।[1]

५. काम्पिल्यपुर—कुण्डकौलिक काम्पिल्यपुर में निवास करता था।[2] महाभारत में काम्पिल्य का उल्लेख आता है, यह उस समय के दक्षिण पांचाल प्रदेश का एक नगर था, जो राजा विद्रुप का राजधानी था।[3] ज्ञाताधर्मकथा में भी पांचाल देश के राजा द्रुपद के काम्पिल्यपुर का वर्णन है।[4] इस समय यह बदायूं एवं फर्रुखाबाद के बीच बूढ़ी गंगा के किनारे काम्पिल्य नाम से अवस्थित है।[5]

६. पोलासपुर—सकडालपुत्र पोलासपुर में निवास करता था।[6] भगवान महावीर अपने इक्कीसवें चातुर्मास में यहां आये थे। पालि साहित्य में इसका नाम पोलासपुर मिलता है।[7]

७. राजगृह—महाशतक राजगृह में निवास करता था।[8] यह मगध की राजधानी थी। यहां राजा श्रेणिक राज्य करता था। बिहार में स्थित वर्तमान राजगृह प्राचीनकाल का राजगृह ही है।[9] पांच पहाड़ियों से गिरा होने से उसे गिरिव्रज भी कहते हैं। आचार्य आत्माराम के मतानुसार राजगृह बिहार प्रान्त में पटना से पूर्व तथा गया से पूर्वोत्तर में स्थित है। यह पटना से ८० मील और नालन्दा से ८ मील दूर है।[10]

---

१. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि—भगवान महावीर : एक अनुशीलन, परिशिष्ट, पृष्ठ ४०
२. उवासगदसाओ –मुनि मधुकर, ६/१६५
३. क. महाभारत-आदिपर्व, १३७/७३
   ख. उद्योगपर्व, १८९/१३
   ग. शांतिपर्व, १३९/५
४. णायाधम्मकहाओ, १६
५. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, ६/१६५ (विवेचन)
६. वही, ७/१८०
७. उपासकदशांगसूत्र—मुनि आत्माराम, पृष्ठ ३८७
८. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, ८/२३१
९. जैन, डॉ० प्रेमसुमन—कुवलयमाला का सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ ७०
१०. उपासकदशांगसूत्र—मुनि आत्माराम, परिशिष्ट, पृष्ठ ३८९

८. **श्रावस्ती**—नन्दिनीपिता एवं सालिहीपिता श्रावस्ती में रहते थे।[1] यह कौशल की राजधानी थी। इसका नाम सहेत-महेत है। सहेट गोंडा जिले में है और महेट वहराईच जिले में है। उत्तर पूर्व रेलवे के वलरामपुर स्टेशन से जो सड़क जाती है उससे यह दस मील दूर है।[2] यह जैन और वौद्ध संस्कृति का केन्द्र रहा था। केशी-गौतम संवाद भी यहीं पर हुआ था। यह चारों ओर से जंगल से घिरा हुआ हैं।[3]

९. **मल्लकि और लिच्छिवि**—उपासकदशांगसूत्र में अग्निमित्रा ने भगवान महावीर से कहा कि जिस प्रकार मल्लकि और लिच्छिवि मुण्डित हुए हैं, उस प्रकार मैं होने में असमर्थ हूँ। इन दोनों गणराज्यों का केवल इस तरह उल्लेख मात्र मिलता है।[4] यहाँ प्रयुक्त मल्लकि—मल्ल संघ से सम्वन्धितजनों एवं लिच्छिवि—लिच्छिवि संघ से सम्वन्धितजनों के लिये प्रयुक्त हुआ है। कल्पसूत्र में ऐसे संघीय समुदायों का स्पष्ट उल्लेख है जिसमें नौ मल्लकि और नौ लिच्छिवि व काशी, कोशल के १८ गण-राज्यों का उल्लेख आता है।[5]

उपनगर—उपासकदशांगसूत्र में नगर के वाहर थोड़ी दूर पर उपनगर का भी वर्णन प्राप्त होता है। वाणिज्यग्राम के वाहर उत्तर-पूर्व दिशा में कोल्लाक नामक उपनगर था। वहाँ कोल्लाक सन्निवेश में आनन्द गाथा-पति के अनेक मित्र, ज्ञातिजन, निजक, सम्वन्धी एवं परिजन निवास करते थे।[6] देवेन्द्र मुनि शास्त्री के अनुसार वैशाली के निकट वर्तमान मे वसाढ़ से उत्तरपश्चिम में दो मील की दूरी पर जो कोल्हुआ है, वहीं प्राचीन कोल्लाक सन्निवेश होना चाहिए।[7]

---

१. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, ९/२६९, १०/२७३
२. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि—भगवान महावीर : एक अनुशीलन, परिशिष्ट, पृष्ठ ८४
३. जैन, जगदीशचन्द्र—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृष्ठ ४८५
४. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर ७/२१०
५. वही, ७/२१०
६. वही, १/७-८
७. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि—भगवान महावीर : एक अनुशीलन, (परिशिष्ट), पृष्ठ ४९

चैत्य या उद्यान—नगरों के बाहर चैत्यों और उद्यानों का वर्णन भी प्राप्त होता है। उपासकदशांगसूत्र में उल्लेख मिलता है कि चम्पानगरी के बाहर पूर्णभद्रचैत्य,[१] वाणिज्यग्राम के बाहर दूतिपलाशचैत्य,[२] वाराणसी और श्रावस्ती के बाहर कोष्टक चैत्य था।[३] आलभिया के बाहर शंखवन,[४] काम्पिल्यपुर तथा पोलासपुर के बाहर सहस्राम्र वन,[५] राजगृह के बाहर गुणशील उद्यान था।[६] इन सभी चैत्यों, वनों तथा उद्यानों को भगवान महावीर ने अपने निवास के रूप में कुछ समय के लिये प्रयुक्त किया था।

अन्य आगमों में भी उद्यानों का वर्णन मिलता है, जहाँ व्यक्ति उत्सव आदि पर एकत्रित होते, आराम करते एवं क्रीड़ा करते थे। सहस्र-आम्रवन उद्यानों में हजार आम के वृक्ष होते थे।[७]

नगरों की बसावट और सुविधा—उपासकदशांगसूत्र में विभिन्न नगरों की भौगोलिक स्थिति का भी वर्णन मिलता है। कोल्लाकसन्निवेश तिकोने स्थानों, तिराहों, चौराहों, चबूतरों से युक्त बर्तन आदि की दुकानों से सुशोभित और रमणीय नगर था।[८] आलभिया नगरी में शृंगाटक त्रिक, चतुष्क, चत्वर, चतुर्मुख, महापथ आदि का समायोजन था।[९] नगर की सुरक्षा के लिए शहर कोट का निर्माण किया जाता था एवं लोगों की सुविधा तथा मनोरंजन के लिए जलाशय, उत्तमभवन, क्रीड़ा-वाटिका, उद्यान, कुएँ, तालाब, बावड़ी, जल के छोटे-छोटे बाँध बने हुए थे।[१०]

---

१. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, १/१, २/९२
२. वही, १/३
३. वही, ३/१२४, ४/१५०, ९/२६९, १०/२७३
४. वही, ५/१५७
५. वही, ६/१६५, ७/१८०
६. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, ८/२३१
७. जैन, जगदीशचन्द्र—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० १२८-१३०
८. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, १/७
९. वही, ५/१५९
१०. वही, १/७

ऐतिहासिक पुरुष—

उपासकदशांगसूत्र में भगवान महावीर के अतिरिक्त उनके प्रमुख गणधर इन्द्रभूति गौतम, प्रमुख उपासक राजा जितशत्रु तथा श्रेणिक का वर्णन प्राप्त होता है।

साथ ही आजीवक मत के प्रमुख गोशालक का उल्लेख भी मिलता है। तत्कालीन ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर इनका वर्णन इस प्रकार है :—

१. महावीर—महावीर जैनधर्म के चौवीसवें तीर्थंकर थे। इनके पिता का नाम सिद्धार्थ एवं माता का नाम त्रिशला था। इन्होंने तीस वर्ष की उम्र में दीक्षा धारण कर साढ़े वारह वर्ष कठोर तपाराधना कर 'केवल-ज्ञान' प्राप्त किया एवं वहत्तर वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया। उपासकदशांगसूत्र में महावीर के दस श्रावकों का विस्तार से वर्णन मिलता है।

२. गोशालक—उपासकदशांग में गोशालक व उसके आजीवक सम्प्रदाय का वर्णन प्राप्त होता है। गोशालक छद्मस्थ काल में भगवान् महावीर का शिष्य रहा था। वाद में महावीर का साथ छोड़कर आजीवक मत का तीसरा आचार्य वन गया।[1] आजीवक सम्प्रदाय के अनुयायी गोशालक को अर्हत्, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी व तीर्थंकर कहकर पूजते थे।[2] इस सम्प्रदाय का उल्लेख जैन, ब्राह्मण और अशोक के अभिलेखों में प्राप्त है। भगवतीसूत्र के पन्द्रहवें अध्ययन में गोशालक की जीवनी वर्णित है।

३. जितशत्रु—उपासकदशांगसूत्र के अनुसार वाणिज्यग्राम, चम्पा, वाराणसी, आलभिया, काम्पिल्यपुर, पोलासपुर एवं श्रावस्ती इन सात नगरों में जितशत्रु राजा राज्य करता था। इतिहासग्रन्थों में जितशत्रु नाम के राजा का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। अतः यह जितशत्रु नाम व्यक्तिवाचक न मानकर विशेषण के रूप में माना गया है। जिसका अर्थ शत्रुओं को जीतने वाला किया जा सकता है।[3]

---

१. भगवतीसूत्र, शतक १५

२. उवासगदसाओ—मुनि मधुकर, ७/१८१

३. उपासकदशांगसूत्र —मुनि आत्माराम, परिशिष्ट, पृष्ठ ३९६

उपासकदशांगसूत्र के अनुवादक डॉ० हार्नले वाणिज्यग्राम आदि के राजा जितशत्रु एवं नवलच्छि और नवमल्लि आदि अठारह गणराज्यों के स्वामी चेटक को एक ही व्यक्ति मानते हैं।[1]

४. श्रेणिक—उपासकदशांगसूत्र के अनुसार श्रेणिक राजगृह का स्वामी था। इसे सेनिय, भंभसार, भिंभिसार और विम्बिसार भी कहा जाता है। यह महावीर का परमभक्त था। इसके पुत्र का नाम अभयकुमार था। वह कुशाग्रपुर में रहता था।[2]

५. इन्द्रभूति गौतम—भगवान् महावीर का प्रथम मुख्य शिष्य इन्द्रभूति गौतम था। अपनी अतिशय विद्वत्ता के कारण गणधर बना। वैसे जैन साहित्य में ग्यारह गणधरों का उल्लेख है परन्तु उपासकदशांग में इन्द्रभूति का ही वर्णन मिलता है। आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार मगध की राजधानी राजगृह के पास गोवरगांव में इसका जन्म हुआ था।[3] यह आज भी नालन्दा का ही भाग माना जाता है। इन्द्रभूति की माता का नाम पृथ्वी व पिता का नाम वसुभूति था। गौतम इनका गोत्र था।[4]

इस प्रकार उपासकदशांगसूत्र में समाज और संस्कृति से सम्बन्धित प्रायः सभी अंगों का कम-ज्यादा मात्रा में वर्णन हुआ है। यद्यपि अनेक दृष्टियों से यह वर्णन समग्र सामाजिक स्थिति को प्रस्तुत नहीं करता, फिर भी दस श्रावकों के वर्णन में परिवार एवं समाज से सम्वन्धित वहुत सी वातें स्पष्ट हो जाती हैं, जिसके आधार पर तत्कालीन समाज और संस्कृति का मूल्यांकन करने में इससे काफी सहायता मिलती है।

——

१. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि—भगवान महावीर : एक अनुशीलन—व्यक्ति परिचय पृष्ठ २३

२. जैन, जगदीशचन्द्र—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, परिशिष्ट २, पृष्ठ ५०६-८

३. "मग्हा गुव्वर-गामे जाया तिन्नेव गोयम सगुत्ता"
—आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ६४३

४. आवश्यकमलयगिरिवृत्ति, ३३८

परिशिष्ट

पारिभाषिक-शब्द

उपासकदशांगसूत्र श्रावक-आचार का एकमात्र प्राचीन, प्रामाणिक व प्रतिनिधि ग्रन्थ है। श्रावक के आचार-विचार व सिद्धान्तों को वर्णित करने में अनेक ऐसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है जिनका अर्थ सामान्य अर्थ से भिन्न होता है तथा जो जैन दर्शन की सैद्धान्तिक व्याख्या करने में सहायक होते हैं, ऐसे कतिपय पारिभाषिक शब्दों को यहाँ पर प्रस्तुत किया जा रहा है ताकि उनके वास्तविक अर्थ को सरलतापूर्वक समझा जा सके।

अणट्ठादंड : १/४३ = अनर्थदण्ड—ऐसे निरर्थक कार्यों को करना जो धर्म, अर्थ, काम के विना हों उसे अनर्थदण्ड कहा गया है।

उमाघाए : ८/२४१ = अमाघात—इसका अर्थ जीव हिंसा का निषेध है। राजा द्वारा किसी मांगलिक अवसर पर राज्य में हिंसा नहीं करने की घोषणा को अमाघात कहा जाता है।

अरहा : ७/१८७ = अर्हत्—इसका अर्थ पूजनीय व्यक्ति से है जो आत्म-शत्रुओं को नष्ट कर देने पर अरिहन्त हो जाता है।

अलसअ : ८/२५५ = अलसक—पेट या आमाशय का एक प्रकार का रोग।

असईजणपोसणया : १/५१ = असती-जन-पोषण—व्यापार के निमित्त वेश्या आदि से देह-व्यापार कराना।

आजीविओवासए : ७/१८१ = आजीविकोपासक—आजीविक नामक एक धर्म सम्प्रदाय का उपासक।

आलोएहि : ३/१४६ = आलोचना—असावधानी व प्रमादवश साधना में जो भूलें हो जाती हैं, उनकी पुनरावृत्ति न कर पूर्वकृत भूलों के लिए लिया जाने वाला दण्ड आलोचना कहलाता है।

इंगालकम्मे : १/५१ = अंगारकर्म—अग्नि के संयोग से किये जाने वाले घोर हिंसात्मक कार्य, जिनमें जंगलों को जलाकर कोयला बनाना, ईंटों का भट्ठा लगाना आदि अंगार-कर्म के अन्तर्गत आते हैं।

उवसग्गा : २/११६ = उपसर्ग—धर्माराधना करने वाले व्यक्ति को धर्म-साधना से स्खलित करने के लिए मनुष्य तिर्यञ्च या देव द्वारा दिये जाने वाले कष्ट एवं यातनाओं को उपसर्ग कहा जाता है।

ओहि-नाणे : १/७४ = अवधिज्ञान—आत्म-विकास की वह विशिष्ट शक्ति जो त्याग व तपस्या द्वारा प्राप्त की जाती है एवं जिससे एक निश्चित दूरी तक स्थित पदार्थों को देखने व समझने का ज्ञान प्राप्त होता है।

केवली : ७/१८७ = केवली—जिन महापुरुषों को त्याग व तपस्या के बल पर संसार के समस्त पदार्थों का ज्ञान हो जाता हो ऐसे विशुद्ध ज्ञान के धारी महापुरुषों को केवली कहा जाता है।

गणाभिओगेणं : १/५८ = गणाभियोगेन—समाज या परस्पर कार्य कर रहे व्यक्तियों के दवाव में आकर अपनी मान्यता के विपरीत कार्य को करना। श्रावक-व्रत पालन में इस कार्य को छूट के अन्तर्गत गिना जाता है।

गाहावई : १/३ = गाथापति—'गाहा' का अर्थ घर से है एवं 'वई' का अर्थ स्वामी से किया जाकर गाहा-वई इन दोनों के मेल से गाथापति शब्द बना है। सम्पन्न गृहस्वामी के लिए इस शब्द का प्रयोग होता है।

गुरुनिग्गहेण : १/५८ = गुरुनिग्रहेण—माता-पिता, गुरुजनों व पूज्य व्यक्तियों द्वारा अनुग्रह होने पर अन्य मत व सम्प्रदाय में जाना पड़े एवं उस सम्प्रदाय की वहाँ प्रशंसा करनी पड़े तो उसे गुरुनिग्रहेण कहा जाता है। श्रावक-व्रत पालन में इसकी छूट मिलती है।

घरसमुदाण : १/७७ = गृहसमुदान—यह साधु की भिक्षाचर्या से सम्बन्धित है। इसमें साधु प्रत्येक घर से यथायोग्य वस्तु ग्रहण करता है तथा उस समय मन में यह भेद नहीं करता है कि अमुक घर से अच्छी वस्तु मिलेगी और अमुक से अच्छी नहीं मिलेगी, अर्थात्

प्रत्येक घर से विना किसी भेदभाव के जो भी भिक्षा प्राप्त हो उसे समभाव पूर्वक ग्रहण करने को गृहसमुदान कहा जाता है।

चेइए : १/१० = चैत्य—चैत्य का अर्थ जिनग्रह, जिनमंदिर, उद्यान, वगीचा, विश्राम स्थान, उपाश्रय आदि से लिया जाता है।

छट्ठं-छट्ठेणं : १/७६ = षष्ठषष्ठेंन—यह एक प्रकार की तपस्या है, जिसमें छः भोजनों का त्याग किया जाता है। पहले दिन सायंकाल का भोजन नहीं करके दूसरे व तीसरे दिन पूर्ण उपवास रखा जाता है तथा चौथे दिन केवल प्रातःकाल का ही भोजन किया जाता है। इस प्रकार इसमें दो दिन एक-एक समय का ही भोजन किया जाता है और दो दिन उपवास रखा जाता है। ऐसा तप गौतम स्वामी ने किया था।

जिण : ७/१८७ = जिन—जिन्होंने राग-द्वेष को जीत लिया है ऐसे सर्वज्ञान के धारक व्यक्ति को प्राचीन समय में 'जिन' कहा जाता था। यह शव्द अत्यन्त सम्मान का सूचक था। 'जैन' शव्द इसी 'जिन' शव्द से वना है।

तच्च-कम्म-संपया-संपउत्त : ७/१८७ = तत्यकर्म-सम्पदा-सम्प्रयुक्त—महावीर के विशेषण के रूप में ये शव्द प्रयुक्त हैं। तथ्यात्मक कर्मसम्पदा से युक्त जो तपस्या की जाती है उसके लिए इस विशेषण का प्रयोग होता है अर्थात् तपस्या जिस उद्देश्य से की जाती थी वह वास्तव में उसी उद्देश्य पर पहुँचाने वाली होनी चाहिए। महावीर की तपस्या इसी प्रकार की थी।

धम्मविज्जिया : ७/२२७ = धर्मवैद्या—धार्मिक स्त्री का एक विशेषण। जैसे शरीर में रोग उत्पन्न होने पर वैद्य उसका निदान करता है। उसी तरह धर्म के प्रति यदि उदासीनता व पीड़ा आती है तो उसे दूर करने में जो चतुर हो वह धर्मवैद्या कहलाती है।

धम्म-सहाइया : ७/२२७ = धर्मसहायिका—स्त्री का विशेषण। धर्म-कार्यों में पति की सहायता करने वाली एवं पति को प्रोत्साहित कर धर्म कार्य में प्रवृत्त करने वाली स्त्री धर्म-सहायिका कहलाती है।

धम्माणुरागरत्ता : ७/२२७ = धर्मानुरागरक्ता—स्त्री का विशेषण। धर्म में अनुराग व श्रद्धा रखने वाली, जिसके आन्तरिक व वाह्य जीवन में धर्म का रंग चढ़ा हो।

नियत्तण : १/१९ = निवर्तन—प्राचीन काल में भूमि के एक विशेष माप के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला शब्द। बीस वांस या दो सौ हाथ लम्बी-चौड़ी भूमि को 'निवर्तन कहते हैं।

पडिमं : १/७१ = प्रतिमा—प्रतिमा एक विशिष्ट धार्मिक तप की क्रिया का नाम है। यह एक तरह का व्रत या अभिग्रह है इसमें आत्मा की शुद्धि के लिए धार्मिक क्रियाओं का विशेष प्रकार से अनुष्ठान किया जाता है। प्रतिमाएँ कुल ग्यारह तरह की होती हैं और प्रत्येक प्रतिमा में किसी एक धार्मिक क्रिया को लक्ष्य में रखकर सम्पूर्ण समय उसी क्रिया के सन्दर्भ में चिन्तन, मनन, अनुष्ठान व साधना में लगाया जाता है।

पलिओवमाइं : १/६२ = पल्योपम—एक दीर्घकाल की सीमा का द्योतक है। जैन गणना काल की कालावधि में इसका प्रयोग होता है।

पाडिहारिएणं : ७/१८७ = प्रातिहारिक—गृहस्थों के यहाँ से ली हुई साधु-साध्वियों के काम में आनी वाली वस्तुएँ, जिन्हें काम हो जाने पर वापस लौटा दी जाती है प्रातिहारिक कही जाती है। ये चार हैं—पीठ, फलग, शय्या, संस्तारक।

पोसहसालं : १/६९ = पौषधशाला—धर्मस्थान जहाँ व्यक्ति धर्माराधना करता है। ऐसा स्थान केवल धर्माराधना के लिए ही निर्मित किया जाता है।

फोडीकम्मे : १/५१ = स्फोटीकर्म—खान खोदना, कुएं खुदवाना आदि कार्य स्फोटनकर्म है।

वलाभिओगेणं : १/५८ = वलाभियोगेन—सेना या वलशाली पुरुषों के दवाव में आकर उनकी आज्ञानुसार कार्य करना। श्रावक व्रत-पालन में इसकी छूट रहती है।

महागोवे : ७/२१८ = महागोप—यह महावीर के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है जैसे ग्वाला गायों की देखभाल व सुरक्षा करता है, वैसे ही महावीर लोक कल्याण व जन-जन की सुरक्षा हेतु उपदेश देते थे।

महाधम्मकही : ७/२१८ = महाधर्मकथी = महावीर का विशेषण। संसार-चक्र में भटकते हुए व्यक्तियों की विविध दृष्टान्तों व आख्यानों के माध्यम से धर्म का सार बताने के कारण महावीर को महा-धर्मकथी कहा है।

महानिज्जामए : ७/२१८ = महानिर्यामक—महावीर का एक विशेषण। निर्यामक का अर्थ है पार उतारने वाला। महावीर संसाररूपी समुद्र में डूब रहे व्यक्तियों को धर्मरूपी नौका से पार उतारते हैं, अतः महावीर महानिर्यामक थे।

महामाहण : ७/१८७ = महामाहण—शाब्दिक दृष्टि से 'महा' का अर्थ महान से है व 'माहन' का अर्थ ब्राह्मण से है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि "मैं किसी को नहीं मारूं" और तदनुरूप वह किसी को नहीं मारता है और जनता को भी नहीं मारने का उपदेश देता है, ऐसा व्यक्ति माहण व महान् अर्थात् महामाहण कहलाता है।

महासत्थवाह : ७/२१८ = महासार्थवाह—महावीर का विशेषण। दूर-दूर तक लम्बी-लम्बी यात्रायें करने व कराने वाले संचालक को सार्थवाह कहा जाता है।

मेढी : १/५ = मेढी—'मेढी' शब्द लकड़ी के उस खम्भे से है जिसे खेतों के बीचोंबीच गाड़कर उससे बैलों को बांधकर अनाज निकालने के लिए उन्हें घुमाया जाता है, उसी के सहारे बैल गतिशील रहते हैं। आनन्द भी मेढी के समान केन्द्र-बिन्दु की तरह घर में रहता था।

रयणप्पभा : १/७४ = रत्नप्रभा—अधोलोक की प्रथम नरक का नाम। इसमें नारकीय जीव निवास करते हैं।

रसवाणिज्जे : १/१५१ = रसवाणिज्य—मदिरा या अन्य मादक द्रव्यों के व्यापार को रसवाणिज्य कहा जाता है।

रायाभिओगेणं : १/५८ = राजाभियोगेन—राजा या स्वामी द्वारा दबाव के कारण अन्य मत व सम्प्रदाय के लोगों के साथ संभाषण करना। श्रावक-व्रत में इसकी छूट रहती है।

लवण समुद्दे : १/७४ = लवणसमुद्र—जैन भूगोल का एक पारिभाषिक शब्द है जिसके अनुसार अढ़ाई द्वीप के मध्य में जम्बू द्वीप है, उसके चारों ओर लवणसमुद्र स्थित है।

वज्ज-रिसह-नाराय-संघयणे : १/७६ = व्रजऋषभ-नाराच-संहनन = शरीर के अंगों के संगठन को संहनन कहा गया है। शरीर-शास्त्र के इतिहास में यह संहनन छः प्रकार का होता है, जिसमें शारीरिक संधियों की बनावट का वर्णन है। इस तरह जो संहनन व्रजऋषभनाराच से युक्त हो वह उत्तम माना गया है। यह संहनन तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के ही होता है।

वणकम्मे : १/५१ = वनकर्म—वनों की लकड़ी काटना व बेचना, हरी वनस्पतियों का छेदन करना अर्थात् त्रसजीव विराधना के कार्य करना।

वय : ८/२३२ = व्रज—गायों का समूह। इसी का पर्यायवाची गोकुल है। एक गोकुल में दस हजार पशु होते हैं।

वित्तिकंतारेणं : १/५८ = वृत्तिकान्तरेण—आजीविका चलाने में कठिनाई होने पर आश्रितों के भरण-पोषण के लिए अन्य मन व सप्रदाय में जाना वृत्तिकान्तरेण कहा जाता है। श्रावक व्रत पालन में इससे छूट दी गई है।

विसवाणिज्जे : १/५१ = विषवाणिज्य—जहरीले पदार्थों के व्यापार को, जिसमें कीड़े, चूहे आदि मारने की दवा, जहर, अस्त्र-शस्त्र आदि सम्मिलित है, को विषवाणिज्य कहा है।

सचित्ताहारे : १/५१ = सचित्त-आहार—विना पकाई हुई सब्जी आदि को खाना सचित्त आहार है। सचित्त का शाब्दिक अर्थ प्राणयुक्त (हरी) सब्जी से है।

समचउरंस-संठाण-संठिए : १/७६ = समचतुस्रसंस्थान संस्थितः—यह शब्द शरीर की आकृति से सम्वन्धित है, जिसमें समस्त शरीर के अंगों का एक दूसरे के अनुरूप व सुन्दर होता है।

सम-सुहदुक्खसहाइया : ७/२२७ = समसुख दुःख सहायिका—स्त्री का विशेषण। अपने पति के सुख-दुःख में हिस्सा बँटाकर उसे सहयोग करने वाली स्त्री के लिए इस विशेषण का प्रयोग किया जाता है।

सम्मत्त : १/४४ = सम्यक्त्व—यथार्थ रूप से जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, वन्ध व मोक्ष का नाम ही सम्यक्त्व है।

समोसरिए : १/२ = समवसृतः—तीर्थंकर आदि महापुरुषों की सभाओं, समितियों, परिषदों को समवसरण (समवसृतः) कहा जाता है। जहाँ सामूहिक रूप से जनता उपदेशों के लिए एकत्रित होती थी।

सहस्सपागेहिं : १/२५ = सहस्रपाक—एक विशेष प्रकार का तेल, जिसमें सौ पदार्थों को सौ वार पकाया जाता हो और जिसका मूल्य सौ कार्षापण हो। कार्षापण से तात्पर्य उस समय की प्रचलित मुद्रा से है।

साडीकम्मे : १/५१ = शकटकर्म—वाहन आदि के व्यापार करने को शकटकर्म कहा जाता है अर्थात् वाहनों को खरीदना व वेचना शकटकर्म है।

सोहम्मं : १/७४ = सौधर्म—ऊर्ध्व लोक, प्रथम देवलोक सौधर्म कहलाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

खण्ड 'क'—उपासकदशांगसूत्र (मूलग्रन्थ)

१. उवासगदसाओ—(सं०) मधुकर मुनि : श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, २०३७

२. उपासकदशांगसूत्र—(सं०) घासीलाल जी म० सा० : श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनसंघ, करांची, १९९३

३. उपासकदशांगसूत्र—(सं०), साध्वी उर्वशी : प्रेम जिनागम प्रकाशन समिति, बम्बई, २०३१

४. उपासकदशांगसूत्र—जीवराज घेलाभाई दोशी, अहमदाबाद

५. उपासकदशांगसूत्र—अमोलक ऋषि : सिकन्दराबाद जैन संघ, हैदराबाद, १९७२

६. उपासकदशांगसूत्र—पी० एल० वैद्य, पूना, १९८७

७. उपासकदशांगसूत्र—(सं०) आत्माराम जी म० सा० : आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, २०२१

८. उपासकदशांगसूत्र—(सं०) घीसुलाल पितलिया : अ० भा० साधुमार्गी संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना, २०३४

९. उपासकदशांगसूत्र—(अंग्रेजी) हार्नले : बंगाल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, १९४७

१०. उवासगदसाओ—श्री अभयदेव टीकानुवाद युक्त: पं० भगवानदास हर्षचन्द्र, जैनानन्द पुस्तकालय गोपीपुरा, सूरत, १९९२

११. उपासकदशांगसूत्र—(टीका) आ० अभयदेव : राय धनपत सिंह बहादुर, अजीमगंज, १९३३

खण्ड 'ख'—सहायक ग्रन्थों की सूची (प्राचीन)

१. अंगसुत्ताणि—पुप्फभिक्खु : सूत्रागम प्रकाशन समिति, गुड़गाँव, २०१०

२. अंगसुत्ताणि—(भाग ३) मुनि नथमल : जैन विश्वभारती, लाडनूं २०३१

३. अंगपविट्ठ सुत्ताणि—रतनलाल डोसी, पारसमल चण्डालिया : अ० भा० सा० जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना, २०३९

४. अनगार धर्मामृत—पं० आशाधर : भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, २०३४

५. अनुयोगद्वारसूत्र —(टीका) हरिभद्र : रतलाम, १९८५

६ अनुयोगद्वारसूत्र —अमोलकऋषि : सुखदेव सहाय, ज्वालाप्रसाद जौहरी, हैदराबाद, वीर सं० २४४६

७. अमितगतिश्रावकाचार—आ० अमितगति

८. अर्थागमे —पुप्फभिक्खु : सूत्रागम प्रकाशन समिति, गुड़गाँव २०२८

९. आचारदसा —मुनि कन्हैयालाल 'कमल' : आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (राज०), २०३३

१०. आचारांगसूत्र —शीलांकटीका—धनपत सिंह, कलकत्ता, १९३६

११. आचारांगसूत्र —मधुकर मुनि : श्री आगम प्रकाशनसमिति, व्यावर

१२. आवश्यकटीका —हरिभद्र : आगमोदय समिति, बम्बई, १९१६

१३. आवश्यकसूत्र —पं० घासीलाल : जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट (सौराष्ट्र), २०१४

१४. आवश्यक (निर्युक्ति)—मलयगिरि कृतटीका : आगमोदय समिति, बम्बई, २०८५-९३

१५. उत्तराध्ययनसूत्र —पं० घेवरचन्द बांठिया : अ० भा० सा० जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना (म० प्र०), २०३१

१६. उपासकाध्ययन —(सोमदेवसूरि) (सं०) शास्त्री, कैलाशचन्द्र : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, २०२१

१७. औपपातिकसूत्र —मुनि घासीलाल : श्री अ० भा० श्वेताम्बर जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, २०१५

१८. कल्पसूत्र —(टीका) समयसुन्दर गणि, बम्बई, १९३९

१९. कप्पसुत्त —मुनि कन्हैयालाल 'कमल' : आगम अनुयोग प्रकाशन —सांडेराव, २०३४

२०. कषायपाहुड—जयधवला टीका

२१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा—उपाध्ये, ए. एन. : श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास

२२. चारित्रपाहुड—आ. कुन्दकुन्द : श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, २०२७

२३. चारित्रसार—चामुण्डाचार्य—मा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९७७

२४. तत्त्वार्थसूत्र—शास्त्री, कैलाशचन्द्र : भा. दि. जैनसंघ चौरासी, मथुरा, २००७

२५. तत्त्वार्थसूत्र—संघवी, सुखलाल : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, २०३१

२६. तित्थोगालि—श्वेताम्बर जैनसंघ, जालोर

२७. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्त—हेमचन्द्राचार्य : जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९६१-६४

२८. दसवैकालिक—(सं०) आ. तुलसी; जैन विश्व भारती, लाडनूं

२९. दशवैकालिकसूत्र—शय्यंभवसूरि : श्रीगणेश स्मृति ग्रन्थमाला, बीकानेर

३०. नन्दीसूत्र—सं० मधुकर मुनि : श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

३१. नियमसार—कुन्दकुन्द, सं० परमेष्ठीदास : श्री कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर, २०४१

३३. पञ्चास्तिकाय—आ. कुन्दकुन्द : श्री परम श्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, २०२५

३४. पद्मपुराण—रविषेणाचार्य : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, २०१६

३५. पद्मपुराण—जैन, पन्नालाल : भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली, २०३३

३६. परिशिष्टपर्वम्—आ० हेमचन्द्र

३७. पुरुषार्थसिद्धयुपाय—सं० प्रेमी, नाथूराम : श्री परम श्रुत प्रभावक मण्डल, अगास

३८. पुरुषार्थसिद्धयुपाय—अमृतचन्द, टोडरमल स्मारक भवन ट्रस्ट, बनारस, २०३४

३९. प्रश्नव्याकरण—टीका अभयदेव : आगमोदय समिति, बम्बई, १९१९

४०. प्रभावकचरित्र—प्रभाचन्द्राचार्य : सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद

४१. प्रमाणनयतत्त्वालोक—श्री वादिदेव सूरि : अम्बालिपोल जैन उपाश्रय कार्यालय, अहमदाबाद, २०२६

४२. प्रज्ञापना (वृत्ति) —मलयगिरी : आगमोदय समिति मेहसाना, १९७५

४३. प्राकृत पाठमाला—मुनि नागचन्द्र : श्री गणेश स्मृति ग्रन्थमाला, बीकानेर, २०३१

४४. प्राकृत व्याकरण : भाग १, २ (हेमचन्द्र), सं० प्यारचन्द्रजी : श्री जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय, ब्यावर, २०२०

४५. प्राकृत व्याकरण—वैद्य, पी. एल. : बम्बई संस्कृत एण्ड प्राकृत सिरीज, २०१५

४६. भगवतीआराधना—(विजयाटीका शिवार्य) सं० शास्त्री, कैलाशचन्द्र : जैन संस्कृति रक्षक संघ, शोलापुर, २०३५

४७. भगवतीसूत्र—(टीका) अभयदेव : आगमोदय समिति, बम्बई, १९२१
रतलाम, १९३७

४८. भावसंग्रह—देवसेन सूरि : मा. दि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई, १९७८

४९. महापुराण—जिनसेनाचार्य : भारतीय ज्ञानपीठ काशी, २००८

५०. महापुराण—(सं०) वैद्य, पी. एल. : भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, २०३६

५१. मूलाचार १, २—वट्टकेर : भा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९७७-८०

५२. मूलाचार—वट्टकेर : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, २०४१

५३. योगशास्त्र—हेमचन्द्र : श्री ऋषभचन्द्र जौहरी, किशनलाल जैन, दिल्ली २०२०

५४. रत्नकरण्डकश्रावकाचार—समन्तभद्राचार्य : श्री श्रुतसागर व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटण, २०११

५५. रत्नाकरावतारिका—मालवणिया, दलसुख : ला० द० भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद

५६. वसुनन्दिश्रावकाचार—आ० वसुनन्दि : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी २००९

५७. विपाकसूत्र—(टीका) अभयदेव : बडौदा, १९२२

५८. विशेषावश्यकभाष्यम्—हेमचन्द्र सूरि : दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदाबाद, २०१९

५९. विशेषावश्यकभाष्य—मलधारी हेमचन्द्र कृत टीका सहित : यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, बनारस, १९५७, ७१

६०. व्याख्याप्रज्ञप्ति—(सं०) मधुकर मुनि : श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर

६१, बृहत्कल्प—(निर्युक्ति, भाष्य, टीका) (सं०) मुनि चतुर्विजय पुण्यविजय : जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९९०-९८

६१. शास्त्रवार्तासमुच्चय—हरिभद्रसूरि:,जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९६४

६२. श्रावकप्रज्ञप्ति—(हरिभद्रसूरि) (सं०) शास्त्री, बालचन्द्र : भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, २०३८

६३. श्रावकप्रज्ञप्ति—(उमास्वाति) मुनि राजेन्द्र विजय : संस्कार साहित्य सदन, डीसा, २०२८

६४. श्रावकाचारसंग्रह—हीरालाल सिद्धान्तालंकार : श्री जैन संस्कृति रक्षक संघ, शोलापुर, भाग १,२,३,४,५ क्रमशः २०३३,३४,३५,३६

६५. सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र—पं० खूबचन्द : परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९८९

६६. समवायांग—(सं०) मुनि कन्हैयालाल 'कमल' : आगम अनुयोग प्रकाशन समिति, सांडेराव, २०२३

६७. समवायांगसूत्र—(सं०) मधुकर मुनि : जैनागम प्रकाशन समिति, व्यावर

६८. सर्वार्थसिद्धि—पूज्यपाद : श्रुत भण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति फलटण, २०११

६९. सागारधर्मामृत—पं० आशाधर : मा० दि० जैन ग्रन्थमाला समिति बम्बई, १९७२

७०. सागारधर्मामृत—पं० आशाधर : सरस जैन ग्रन्थ भण्डार, जबलपुर, २०१२

७१. सागारधर्मामृत—शास्त्री, कैलाशचन्द्र : भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली, २०००

७२. सुत्तागमे—भाग १, २ पुप्फभिक्खु : श्री सूत्रागम प्रकाशन समिति गुडगाँव, २०११

७३. सूत्रकृतांगसूत्र—पं० उमेशचन्द्र 'अणु', अ० भा० सा० जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना, २०१३

७४, सूत्रकृतांगसूत्र—(सं०) मधुकर मुनि : श्री आगम प्रकाशन समिति ब्यावर

७५. स्थानांगसूत्र— (सं०) मधुकर मुनि : श्री जैनागम प्रकाशन समिति ब्यावर, २०३८

७६. स्याद्वादमंजरी—अगरचन्द भैरोदान सेठिया, जैनशास्त्रभण्डार, बीकानेर

७७. हरिवंशपुराण—जिनसेनाचार्य : भारतीय ज्ञानपीठ—काशी, २०१९

७८. ज्ञाताधर्मकथा—(टीका) अभयदेव : आगमोदय समिति—बम्बई, १९१९

खण्ड 'ग' सहायक ग्रन्थों की सूची

१. आचार्य जवाहर—गृहस्थधर्म : श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ—बीकानेर

२. ओझा, गौ० ही—भारतीय प्राचीन लिपिमाला, १९७५

३. कलघटगी, के० सी—जैन व्यू ऑफ लाइफ : जैन संस्कृति रक्ष संघ, शोलापुर, २०२६

४. कापडिया, एच० आर०—ए हिस्ट्री ऑफ दी केनोनिकल लिट्रेचर ऑफ जैन्स,

५. जैन, उदयचन्द्र—हेमप्राकृत व्याकरण शिक्षक : राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान—जयपुर, २०४०

६. जैन, कोमलचन्द—प्राकृत प्रवेशिका : तारा पब्लिकेशन्स—वाराणसी, २०३६

७. जैन, गोकुलचन्द—यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन : सोहन लाल जैन धर्म प्रचारक समिति—अमृतसर, २०२४

८. जैन, जगदीशचन्द्र—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज : चौखम्बा विद्याभवन—वाराणसी, २०२२

९. जैन, जगदीशचन्द्र—प्राकृत साहित्य का इतिहास : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, २०१७

१०. जैन, प्रेमसुमन—कुवलयमाला का सांस्कृतिक अध्ययन : प्राकृत जैन शास्त्र एवं अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली, २०३२

११. जैन, प्रेमसुमन—प्राकृत स्वयं-शिक्षक : राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर २०३५

१२. जैन, प्रेमसुमन—प्राकृत काव्य-सौरभ : तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर, २०३१

१३. जैन, भागचन्द—जैनिज्म इन बुद्धिज्म लिटरेचर

१४. जैन, विमलप्रकाश—जंबूसामिचरिउं : भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली २०२५

१५. जैन, सागरमल—जैन बौद्ध व गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन : प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, २०३९

१६. जैन, सुदर्शनलाल—उत्तराध्ययन : एक परिशीलन : सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति, अमृतसर, २०३७

१७. जैन, हीरालाल—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान : मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल, २०३२

१८. दोशी, बेचरदास—जैन साहित्य का बृहत् इतिहास : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोधसंस्थान, वाराणसी, २०२२

१९. दोशी, वेचरदास—प्राकृत मार्गोपदेशिका : मोतीलाल वनारसीदास दिल्ली, २०२५

२०. नाहटा, अगरचन्द भंवरलाल—विविधतीर्थकल्प : श्री जैन श्वे० नाकोडा पार्श्वनाथ तीर्थ—वालोतरा, २०३५

२१. पिशेल, आर०-प्राकृत भाषाओं का व्याकरण : विहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, २०१५

२२. पुष्करमुनि—श्रावक धर्म-दर्शन : श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर, २०३५

२३ भारिल्ल, शोभाचन्द्र—प्रमाणनयतत्त्वालोक : आत्मजागृति कार्यालय व्यावर, १९९९

२४. भारिल्ल, शोभाचन्द्र—गृहस्थ-धर्म : श्री अ० भा० सा० जैनसंघ वीकानेर, २०३३

२५. भारिल्ल, हुकमचन्द—धर्म के दसलक्षण : पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, २०४०

२६. महासती उज्जवल कुंवर—श्रावक-धर्म : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, २०११

२७. मालवणिया, दलसुख—जैन दर्शन का आदिकाल : एल० डी० इंस्टीट्यूट ऑफ इण्डोलोजी, अहमदावाद, २०३७

२८. मालवणिया, दलसुख—आगम युग का जैनदर्शन-सन्मति ज्ञानपीठ आगरा

२९. मुनि दुलहराज, शास्त्री छगन लाल, जैन, प्रेमसुमन—संस्कृत प्राकृत जैन व्याकरण व कोश की परम्परा : श्री कालुगणी जन्म—शताब्दी समारोह समिति, छापर, २०३३

३०. मुनि, नगराज—अणुव्रत जीवनदर्शन : अणुव्रत समिति, दिल्ली, २०१७

३१. मुनि, नगराज—आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन : जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता, २०२७

३२. मुनि, नागराज—जैनागम दिग्दर्शन : राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान—जयपुर

३३. मुनि, नथमल—जैन दर्शन, मनन और मीमांसा : आदर्श साहित्य संघ —चुरु, २०३४

३४. मुनि, पुण्यविजय—कैटलोग ऑफ गुजराती मैन्युस्क्रिप्ट्स : एल० डी० इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलोजी, अहमदावाद २०३६

३५. मुनि, पुण्यविजय—कैटलोग ऑफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मैन्युस्क्रिप्ट्स जैसलमेर कैटलोग : एल० डी० इंस्टीट्यूट ऑफ इण्डोलोजी, अहमदावाद, २०२९

३६. मुनि, कन्हैयालाल—जैनागम निर्देशिका : आगम अनुयोगप्रकाशन, दिल्ली २०२३

३७. मेहता, मोहनलाल—जैन दर्शन : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, २०१५

३८. मेहता, मोहनलाल—जैन आचार : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, २०१७

३९. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि—भगवान महावीर : एक अनुशीलन : तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर, २०३१

४०. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि—जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप : तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

४१. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि—जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण : तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर, २०३२

४२. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि—जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा : तारक गुरु जैन ग्रन्थालय—उदयपुर, २०३४

४३. शास्त्री नेमिचन्द्र—अभिनव प्राकृत व्याकरण : तारा पब्लिकेशन्स वाराणसी, २०२०

४४. शास्त्री नेमिचन्द्र—प्राकृतभाषा व साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : तारापब्लिकेशन्स—वाराणसी, २०२३

४५. शास्त्री, नेमिचन्द्र—आदिपुराण में प्रतिपादित भारत : श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला-अस्सी-वाराणसी, २०२५

४६. साध्वी, संघमित्रा—जैन धर्म के प्रभावक आचार्य : जैन विश्वभारती, लाडनूं, २०३६

४७. सोगानी, के. सी.—ईथिकल डाक्ट्रिन्स ऑफ जैनिज्म : जैन संस्कृति सुरक्षा संघ, शोलापुर, २०२४

४८. सिन्हा, वशिष्ठनारायण—जैन धर्म में अहिंसा : सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति, अमृतसर, २०३९

४९. सोधिया, दरयावसिंह—श्रावक धर्मसंहिता : वीर सेवा मंदिर दिल्ली, २०३२

खण्ड (घ)—स्मृतिग्रन्थ : अभिनन्दन ग्रन्थ

१. अम्बालाल जी म. सा. अभिनन्दन ग्रन्थ—(सं०) मुनि सौभाग्य : श्री अम्बालाल जी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति, आमेट १९७६

२. कमल सम्मान-सौरभ—(सं०) मुनि विजय : श्री वर्धमान महावीर केन्द्र, आबु पर्वत, १९८४

३. केशरीमल सुराणा अभिनन्दन ग्रन्थ—(सं०) डॉ० देव कोठारी : श्री केसरीमल सुराणा अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति, राणावास, १९८२

४. दिवाकर अभिनन्दन ग्रन्थ—(सं०) शोभाचन्द्र भारिल्ल : जैनोदय पुस्तक प्रकाशन समिति, रतलाम, १९४८

खण्ड (ङ)—कोश-ग्रन्थ

१. अभिधान राजेन्द्र—(सात खण्ड) श्री विजय राजेन्द्र सूरि जी, रतलाम

२. अर्द्धमागधीकोश—(भाग) १ से ५ (सं०) मुनि रतनचन्द्र जी म० सा० : रेसीडन्ट जनरल सेक्रेटरीज, बम्बई १९३०

३. अमरकोश—(भाग ३) विश्वनाथ झा : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, २०३७

४. आगमशब्दकोश—युवाचार्य महाप्रज्ञ : जैन विश्व भारती, लाडनूँ १९८०

५. एकार्थक-कोश—(सं०) युवाचार्य महाप्रज्ञ : जैन विश्व भारती, लाडनूँ, १९८४

६. जैनसिद्धान्तकोष—(सं०) जैनेन्द्रवर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली

७, जैन लक्षणावली—(भाग १, २, ३) सं०—बालचन्द सिद्धान्तशास्त्री : वीर सेवा मंदिर, दिल्ली १९७९

८. नालन्दा विशाल शब्द सागर—(सं०) नवलजी : आदर्श बुक डिपो, दिल्ली

९. निरुक्त कोश—(सं०) युवाचार्य महाप्रज्ञ : जैन विश्वभारती, लाडनूँ १९८४

१०. पाइअ-सद्द-महण्णवो—पं० हरगोविन्द दास सेठ : प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी १९६३

११. संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी—मोनियर विलसन : मुंशीराम मनोहर-लाल प्रकाश प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, १९८१

खण्ड 'घ' शोध-पत्र-पत्रिकाएँ

१. अमर भारती—(मासिक) : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-१

२. अनेकान्त—(त्रैमासिक) : वीर सेवा मंदिर, दिल्ली

३. जिनवाणी—(मासिक) : सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

४. जैन सिद्धान्त भास्कर—(छः माही) : श्री देवकुमार जैन ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट-आरा, बिहार

५. जैन जर्नल—(अंग्रेजी) : जैन भवन प्रकाशन, कलकत्ता

६. तित्थयर—(मासिक) : जैन भवन, कलकत्ता

७. तीर्थंकर—(मासिक) हीरा भैय्या प्रकाशन, इन्दौर (म० प्र०)

८. तुलसी-प्रज्ञा—(त्रैमासिक) : जैन विश्व भारती, लाडनूँ

९. परामर्श—(त्रैमासिक) : पुणे विश्वविद्यालय, पुणे

१०. श्रमण—(मासिक) : पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस-५

११. श्रमणोपासक—(पाक्षिक) : श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर

१२. संस्कृति—(त्रैमासिक) : शिक्षा एवं संस्कृति मंत्रालय, दिल्ली

१३. सम्बोधि—एल० डी० इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, अहमदाबाद